प्रकाशक—
सुन्दर लाल जैन
पंजाब संस्कृत पुस्तकालय,
सैदमिठ्ठा बाज़ार लाहौर।

मुद्रक—
शान्तिलाल जैन
मैनेजर बम्बई संस्कृत प्रेस
सैदमिठ्ठा बाज़ार लाहौर

कहानी की कहानी

कहानी और कविता कला की वरद कन्याएँ हैं, पहली चपलता, मादकता और चमत्कार के नटखट घोड़े पर चढ़ी हुई बड़ी दूर से आ रही है। शायद इतनी दूर से जिसे समय भी भूल गया है, इतिहास की तो बात ही क्या !

सूरज ऊँघने लगा था। साँझ लाल चादर ओढ़ कर, क्षितिज का काजल लगाये, पत्तियों के घूँघुरू बजाती हुई छमाछम करती चली आती थी। इधर एक मटमैली धोती पहने दादी उसारे में खाट डाले पड़ी थी और गोद में था कन्हैया ! उधर आसमान के हृदय को फोड़ कर गोलमटोल चाँदी का कटोरा निकला। कन्हैया मचल उठा। बालक तो था ही !

'मैं तो यही कटोला लूँगा।' दादी ने बहलाना शुरू किया, फुसलाना शुरु किया। पर कन्हैया कब मानने वाला था ! बड़ा हठी, बड़ा ज़िद्दी और बड़ा ढीठ ! कुछ भी उपाय न चला। कोई बात कारगर न हुई। आखिर हारकर दादी ने एक बात कही— एक राजा था। उसके थे तीन लड़के। "तीन लड़के क्या मेरे जैसे?" बालक ने दादी की आँखों से आँखें मिला कर जिज्ञासा के मर्म में घुस कर पूछा। हाँ बेटा, तीन लड़के ! राजा ने......। कन्हैया चुप था। मानो जिज्ञासा, उत्सुकता ने उसकी आदत को दबोच दिया हो। दादी ने फिर कहा, राजा ने.........। कन्हैया की आँखें झपकने लगीं। डाक्टर हैरान थे। दादी ने चंचल को कौन सी दवा पिला दी। कामकाज में लगी हुई माँ के ज़रा दम में दम आया। कहानी पूरी हो गई। सोते सोते भी वह "बर्रा" उठा, 'एक राजा था। उसके तीन लड़के थे।' कन्हैया ने सबेरे उठ कर फिर राजा की बात छेड़ दी। दादी ने शाम को फिर वहीं से कहानी

सुनाना शुरू कर दिया। बच्चा फिर सोगया। इस तरह सदियाँ गुज़र गईं। इसी लिए हमने कहा इसे समय भी भूल गया है। वाल्मीकि ने दुःख के आँसुओं में 'परपीड़ा' 'परवियोग' का पाठ कर जिसका आवाहन किया वह थी उसकी दूसरी बहन 'कविता'। पर यहाँ कविता की कहानी नहीं, कहानी की कहानी है। उस राजा की कथा संसार के सभी महापुरुषों, सभी विद्वानों, सृष्टि के सभी पुरुषों ने सुनी। संसार में आकर आँख खोलते ही, बोलना सीखते ही सब ने उसी राजा की कहानी सुनी। मैं अनाथ की बात नहीं कहता। सभी सुनने वालों ने 'हूकें' भरे। एक राजा था, उसके तीन लड़के। इसके बाद सभी विद्वान्, सभी महापुरुष नींद का बेसुध कटोरा पी कर चित्त हो गये। पर उस राजा और उसके तीनों लड़कों का बहुत काल तक पता न चला। दादियाँ खुद हैरान थीं, 'वह कौनसा राजा था। उसके तीनों लड़कों का क्या हुआ!' इतिहास भी उसकी गवाही नहीं देता।

समय ने पलटा खाया। बहुत उखाड़ पछाड़ हुई। कुछ बालक बड़े होकर दादी के बताये राजा को पकड़ लाये। उसके तीनों लड़कों का भी पता लग गया। परन्तु 'राजा और उसके तीनों लड़के' अकेले न आये। उनके साथ में थी कला। समाज ने उनका आदर किया, धर्म ने उन्हें दुलराया। अब क्या था! सब जगह राजा को सजाया गया। उसके तीनों लड़कों को घोड़े पर चढ़ाया गया। संसार ने मुस्करा कर, तारों ने इठला कर, रात ने झलमल की झीनी चादर से झाँककर उन्हें देखा। और देखा विश्व ने सतृष्ण नेत्रों से। संसार ने दादी की गोद से निकल कर उसे देखा—पढ़ा और समझा। यह है कहानी की कहानी। कला ने इतना उपकार किया है हम पर! पर आज का संसार 'राजा और उसके तीन लड़कों का' संसार नहीं है। वह दादी की कल्पना की गोद से ऊपर आ गया है। मां की अलसाई, भर्राई हुई आवाज़ से हट कर जनसाधारण के प्रमोद में उसे

स्थान मिल गया। उस समय की दादियाँ जो कहानी कहते सो गई थीं। उस समय शायद उन्होंने समझा था कि कहानी ख़तम हो गई। पर आज यदि वे दादियां जाग कर देखें तो उन्हें मालूम होगा कि कहानियाँ बच्चों के लिए नहीं अब बड़ों के लिए, सुलाने के लिए जगाने के लिए, समय बिताने के लिए नहीं समय का सदुपयोग करने के लिए हैं। आज कहानी की कला जीवन के लिए अपरिमेय, अपरिहार्य और अतर्क्य है। आज उसके बिना मनुष्य की मनुष्यता नीरस और फीकी देख पड़ती है।

कला का सब से अधिक प्रभाव कहानी और कविता में है। वैसे तो मनुष्य का जीवन भी एक कहानी है। जब जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल, असाधारण और अनोखी घटनाएँ किसी ख़ास अंग को लेकर बयान की जाती हैं तब वह कहानी कला का एक अंग, साहित्य की एक खास चीज़ हो जाती है।

भारत के प्राचीन संस्कृत, पाली और पैशाची आदि भाषाओं में कहानियों की परम्परा रही। परन्तु आधुनिक कहानियों का जन्म भारत में अंग्रेज़ी के सम्पर्क से हुआ जान पड़ता है। आधुनिक परि-भाषा में कहानी उस गद्य-कथा का नाम है जो घंटे डेढ घंटे में पढी जा सके। हिन्दी में आधुनिक ढंग की कहानियाँ बंगला से आई हैं, और बंगला में अंग्रेज़ी से। इन कहानियों में लेखक मनोरंजन के साथ जीवन की व्याख्या भी करता है। अपने काल्पनिक अनुभवों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ढंग पर प्रकट करने के लिए वह घटनाओं के विकास और पात्रों के राग विराग का निदर्शन एक खास ढंग पर करता है। इस व्याख्या के अनुसार सच्चा लेखक वही है जो यथार्थ जीवन का चित्र सरलता से खींच सके।

संसार में कला की उपासना ने लोगों को बहुत बहकाया है। शिक्षितों में से अधिक ने कला के द्वारा यश पाने के लिए कविता, कहानी की उपासना की है। परन्तु कुछ अंगुलिगण्य साहित्यिकों को छोड़ कर आज कितने लेखक हैं जिनकी उपासना का साहित्य में

ऊंचा स्थान है। हिन्दी में भी यही हाल है। जो कहानियां सामयिक पत्रों में समय समय पर प्रकाशित होती हैं उनमें अधिक सारहीन निरर्थक और कला से विहीन होती हैं। इसलिए बहुत कुछ कूड़ा काट छांट कर वास्तविक कहानियां ढूँढना सीपी के ढेर से मोती ढूँढने के समान परिश्रमसाध्य है। जिन लोगों ने कहानियों का तत्व नहीं जाना, उनकी वास्तविक कला को नहीं पहचाना उन लोगों का ठीक ठीक कहने योग्य कहानी-संग्रह करना महाकठिन है। न केवल ऐसे संकलयिताओं की यह अनधिकार चेष्टा है बल्कि ग़ैरजिम्मेदार कहानी लेखकों की बाढ़ को भी रोकना हिन्दी-सेवियों का सर्वप्रथम कर्तव्य है। मेरा विश्वास है कि समय की कसौटी उन्हें अपने आप साहित्य के बाहर निकाल फेंकेगी, परन्तु कोमल-मस्तिष्क बालकों के सामने तो कभी कभी कलाहीन कहानियाँ आ ही जाती हैं। सामयिक पत्रों को भी भविष्य में इधर अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत संग्रह में मैंने उन्हीं लेखकों की कहानियां दी हैं जिन्हें मैं कहानी-कला का सिद्ध उपासक समझता हूं। पाठक देखेंगे कि उनमें कितना 'कहानीपन' है। आशा है मेरा यह संग्रह पाठकों को पसन्द आवेगा।

संग्रहकर्त्ता

विषय-सूची

गल्प-रत्नावली

श्री प्रेमचन्द

श्री प्रेमचन्द जी का जन्म जिला बनारस के मँढवा गाँव में सन् १८८० में हुआ। इनका असली नाम है धनपतराय, परन्तु इनका साहित्यिक नाम 'प्रेमचन्द' है।

इन्होंने १६०१ से साहित्य-जगत् में प्रवेश किया। पहले पहल ये उर्दू में ही लिखते थे। इनका सब से पहला उपन्यास 'प्रेमा' सन् १६०५ में प्रकाशित हुआ परन्तु वास्तव मे इन्होंने १६१४ से लिखना प्रारम्भ किया।

श्री प्रेमचन्द जी हिन्दी कहानियों के माने हुए राजा है। परन्तु मुझे तो इस में अत्युक्ति प्रतीत होती है और मुझे खेद तथा आश्चर्य है कि श्री प्रेमचन्द जी ने कभी इसका प्रतिकार क्यों नहीं किया? श्री प्रेमचन्द जी कलाकार हैं। वे रस से कस निकालने की सामर्थ्य रखते है। उनकी कृतियाँ सुन्दर है, उन में से बहुत सी, न केवल रुलाने हँसाने की सामर्थ्य रखती है प्रत्युत वे मानवीय हृदय को बलात् अपने प्रवाह में बहाने की सामर्थ्य भी रखती है। उनकी भाषा आलंकारिक, चुटकियां कसी हुई, मुहावरे चुस्त होते हैं। ग्राम्य जीवन, गृहस्थी के जंजाल-बच्चों और बूढ़ों की मनोवृत्ति इन सब का स्वाभाविक वर्णन करने में प्रेमचन्द सफल है। स्वाभाविकता में उन्हें सफलता प्राप्त है। वे ख़ूब सोच विचार कर कहानी का ढांचा तैयार करते हैं अपने पात्रों से सलाह मशिवरा करना उन्हें पसन्द नहीं। उनकी भाषा और शैली पर फिसाने आज़ाद की शैली की गहरी छाप दीख पड़ती है। उनकी नवीन कहानियों की अपेक्षा पुरानी कहीं अच्छी हैं।

प्रेमचन्द जी की कहानियों में एक दोष है कि वे प्रायः प्रत्येक कहानी में भूमिका बाँधते हैं, इस से पाठकों का मन कथानक से सहसा अनुरक्त

न होकर भूमिका में कुछ समय भटकता रहता है यह कथानक लिखने की पुरानी परिपाटी है। आधुनिक कहानी कलाकार कथानक को कहानी का मेरुदण्ड बनाकर पात्रों के चरित्र की रूप रेखा खींचते चले जाते हैं। भूमिका-बन्ध तो केवल वाह्य शोभा ही के लिये गौण रूप से काम आती है। यदि अन्य भाषाओं के कलाकारों से मुक़ाबिला किया जाय तो प्रेमचन्द जी की कहानियाँ दो चार को छोड़ कर चोरी की नहीं कही जा सकतीं। उनमें कहने योग्य बात, रपटती हुई भाषा, साफ वर्णन शैली, सरल भाव और विषय सुरुचिपूर्ण होते है।

इनके दर्जनों उपन्यास बीसियों कहानियों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जैसे—सेवासदन, वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा ग़बन, कर्मभूमि आदि।

१—शतरंज के खिलाड़ी

(१)

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफ़ीम की पीनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राज-कर्मचारी विषय-वासना में, कवि-गण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी

को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं; तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं। (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी खाली नहीं है।) इस लिए अगर मिरजा सज्जादअली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुप को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं; जीविका की कोई चिन्ता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आख़िर और करते ही क्या? प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछा कर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दावपेंच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता कि खाना तैयार है। यहाँ से जवाब

मिलता—चलो, आते हैं; दस्तरख्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था। और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। मिरजा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इस लिए उन्हीं के दीवानखाने में बाज़ियाँ होती थीं; मगर यह बात न थी कि मिरजा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से खुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, महल्लेवाले, घर के नौकर चाकर तक नित्य द्वेष-पूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े, आदमी दीन दुनिया किसी के काम का नहीं रहता। न घर का न घाट का। बुरा रोग है साहब! यहाँ तक कि मिरजा की बेगम साहबा को इस से इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं; पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिरजाजी घर में आते थे। हाँ नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं? कह दो आकर ले जायँ। खाने की फुरसत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खायें, चाहे कुत्ते को खिलावें। पर दूबदू वह भी कुछ

न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीरसाहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिरजाजी अपनी सफ़ाई देने के लिए सारा इलज़ाम मीरसाहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—जाकर मिरजासाहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़, जल्दी कर। लौंडी गई, तो मिरजाजी ने कहा—चल, अभी आते हैं। बेगम साहबा का मिज़ाज़ गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख हो गया। लौंडी से कहा—जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायँगी।

मिरजा जी बड़ी दिल-चस्पी से बाज़ी खेल रहे थे, दो ही किश्तों में मीरसाहब को मात हुई जाती थी। झुंझला कर बोले—क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?

मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाज़ुकमिज़ाज़ होती ही हैं।

मिरजा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ! दो किश्तों में आप को मात होती है।

मीर—जनाब इस भरोसे न रहियेगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें और मात हो जाय; पर जाइए सुन आइए। क्यों खामख्वाह उनका दिल दुखाइएगा ?

मिरजा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर—मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइए।

मिरजा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द खाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ भी हो, उनकी खातिर तो करनी ही पड़ेगी।

मिरजा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हरगिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।

मिरजा साहब मजबूर होकर अन्दर गए, तो बेगम साहबा ने त्यौरियाँ बदलकर; लेकिन कराहते हुए कहा–तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है! चाहे कोई मर ही जाय; पर उठने का नाम नहीं लेते! नौज कोई तुम-जैसा आदमी हो!

मिरजा—क्या कहूँ, मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।

बेगम—क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसे ही सब

को समझते हैं ? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं, या सबका सफ़ाया कर डाला ?

मिरज़ा—बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुत्कार क्यों नहीं देते ?

मिरज़ा—बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।

बेगम—तो मैं ही दुत्कारे देती हूँ। नाराज़ हो जायँगे, हो जाँय। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी।—हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ़ ले जाइये।

मिरज़ा—हाँ हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना ! ज़लील कराना चाहती हो क्या !—ठहर हिरिया, कहाँ जाती है ?

बेगम—जाने क्यों नहीं देते ! मेरा ही खून पिये, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको तो जानूँ !

यह कह कर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानख़ाने की तरफ़ चलीं। मिरज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीबी की मिन्नतें करने लगे—खुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसेन की

क़सम है। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय; लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानख़ाने के द्वार तक गईं; पर एकाएक पर पुरुष के सामने जाते हुए पांव बंध से गये। भीतर झांका। संयोग से कमरा खाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर उधर कर दिये थे, और अपनी सफाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अन्दर पहुंच कर बाज़ी उलट दी, मुहरे कुछ तख्त के नीचे फेंक दिए, कुछ बाहर और किवाड़ अन्दर से बन्द करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाज़े पर थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक कान में पड़ी। फिर दरवाज़ा बन्द हुआ तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली।

मिरजा ने कहा—तुमने ग़ज़ब किया!

बेगम—अब मीर साहब उधर आये, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ खुदा से लगाते, तो वली हो जाते। आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहां चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है?

मिरजा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे, और सारा वृत्तान्त कहा। मीर-

साहब बोले—मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे तभी ताड़ गया। फ़ौरन् भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं; मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रक्खा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। इन्तज़ाम करना उनका काम है, दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार?

मिरजा—ख़ैर, यह तो बताइये, अब कहाँ जमाव होगा?

मीर—इसका क्या ग़म है। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस, यहीं जमे।

मिरजा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा? जब घर में बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं; यहाँ बैठक होगी, तो शायद ज़िन्दा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी बकने भी दीजिए; दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिए कि आज से ज़रा तन जाइए।

(२)

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से मीर-साहब का घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं; इस लिए वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करती

थीं; बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था, कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गम्भीर है; लेकिन जब दीवानख़ाने में बिसात बिछने लगी, और मीर-साहब दिन-भर घर में रहने लगे, तो बेगम साहबा को बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाजे पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में कोई आवे, कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता। कभी मिठाई का। और, हुक्क़ा तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जा कर कहते—हुजूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई! दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे तो शाम कर दी! घड़ी-आध-घड़ी दिल बहलाव के लिए खेल लेना बहुत है, ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं, हुजूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा लावेंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं; घर पर कोई न कोई

आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि इस के पीछे महल्ले के महल्ले तबाह होते देखे गये हैं। सारे महल्ले में यही चरचा होती रहती है। हुजूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुन कर रंज होता है; मगर क्या करें। इस पर बेगम साहबा कहतीं—मैं तो खुद इसको पसन्द नहीं करती; पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।

महल्ले में भी जो दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएं करने लगे—अब खैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का खुदा ही हाफ़िज़ है। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची आती थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में, और विलासिता के अन्य अङ्गों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अंगरेज़-कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता

था; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीर साहब के दीवानखाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गये। नये-नये नक्शे हल किये जाते, नये-नये क़िले बनाये जाते, नित्य नई व्यूह-रचना होती, कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती, तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती; पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता, कि बाज़ी उठा दी जाती, मिरजा जी रूठ कर अपने घर चले आते। मीरसाहब अपने घर में जा बैठते; पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शान्त हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानख़ाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे हुए शतरंज के दल-दल में गोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गये! यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किस लिए हुई है! अब ख़ैरियत नहीं नजर आती! घर के दरवाजे बन्द कर लिये। नौकरों से बोले—कह दो, घर में नहीं हैं।

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ हैं ?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है ?

सवार—काम तुझे क्या बतलाऊँ ? हुजूर में तलबी है—शायद फ़ौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी ! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा !

नौकर—अच्छा, तो जाइए, कह दिया जायगा।

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल खुद आऊँगा, साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिरजाजी से बोले—कहिए जनाब अब क्या होगा ?

मिरजा—बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी भी तलबी न हो।

मीर—कम्बख्त कल फिर आने को कह गया है।

मिरजा—आफ़त है और क्या ! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा तो बे-मौत मरे।

मीर—बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी। हज़रत आकर आप लौट जायँगे।

मिरजा—वल्लाह, आपको खूब सूझी ! इसके सिवा

और कोई तदबीर ही नहीं है।

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं, तुमने खूब धता बताई। उसने जवाब दिया—ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूल कर भी घर पर न रहेंगे।

(३)

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह-अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बगल में छोटी-सी दरी दबाए, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमती-पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसफ़उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भर कर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। किश्त, शह आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य न निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र

जा डटते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी ख्याल न रहता था।

इधर देश की राजनैतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे; पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था, कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेगार में पकड़े जायँ। हज़ारों रुपये सालाना की जागीर मुफ़्त ही में हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिरज़ा की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मीरसाहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिये। यह गोरों की फ़ौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिए आ रही थी।

मीरसाहब बोले—अँगरेज़ी फ़ौज आ रही है; खुदा ख़ैर करे।

मिरज़ा—आने दीजिए, किश्त बचाइयें। यह किश्त!

मीर—ज़रा देखना चाहिए, यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।

मिरजा—देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त!

मीर—तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे-कैसे जवान हैं! लाल बन्दरों के-से मुँह। सूरत देख कर ख़ौफ़ मालूम होता है।

मिरजा—जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा, यह किश्त!

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी है! कुछ इसकी भी खबर है, कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे?

मिरजा—जब घर चलने का वक़्त आएगा, तो देखी जायगी—यह किश्त! बस, अबकी शह में मात है।

फ़ौज निकल गई। दस बजे का समय था। फिर बाज़ी बिछ गई।

मिरजा बोले—आज खाने की कैसे ठहरेगी?

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आप को ज्यादा भूख मालूम होती है?

मिरजा—जी नहीं। शहर में न जाने क्या हो रहा है?

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना-

खा-खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुजूर नवाबसाहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनो सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गये। अबकी मिरज़ाजी की बाज़ी कमज़ोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली पकड़ लिए गये थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी ख़ून नहीं गिरा था। आजतक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह ख़ून बहे बिना, न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-से-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी बना चला जाता था और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनैतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिरज़ा ने कहा—हुजूर नवाबसाहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिये शह !

मिरज़ा—जनाब, ज़रा ठहरिए। इस वक्त इधर तबीयत

नहीं लगती। बेचारे नवाबसाहब इस वक्त ख़ून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा—यह किश्त!

मिरजा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर—हाँ सो तो है ही—यह लो फिर किश्त! बस, अबकी किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिरजा—खुदा की कसम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह!

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाबसाहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और मात! लाना हाथ!

बादशाह को लिए हुए सेना सामने से निकल गई! उनके जाते ही मिरजा ने फिर बाजी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—आइये, नवाबसाहब के मातम में एक मरसिया कर डालें, लेकिन मिरजा की राज-भक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी। वह हार का बदला चुकाने के लिए अधीर हो रहे थे।

(४)

शाम होगई। खँडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबीलें आ आकर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिरजाजी तीन बाज़ियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाज़ी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभाल कर खेलते थे; लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी ख़राब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीरसाहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गये हों। मिरजा जी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिये उनकी दाद देते थे; पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकला जाता था! यहाँ तक कि बात-बात पर झुँझलाने लगे—जनाब, आप चाल न बदला कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो, एक बार चल लीजिए। यह आप मुहरे पर हाथ क्यों रखते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिए। जब तक आपको चाल न सूझे, मुहरा छूइए ही नहीं। आप एक-एक

चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पाँच मिनट से ज्यादा लगे, उसको मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए।

मीरसाहब का फ़रजी पिटता था। बोले—मैंने चाल चली ही कब थी?

मिरजा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में!

मीर—उस घर में क्यों रक्खूँ? मैंने हाथ से मुहरा छोड़ा ही कब था?

मिरजा—मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी? फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे!

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है; धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।

मिरजा—तो इस बाज़ी में आपको मात हो गई।

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी?

मिरजा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रक्खा था।

मीर—वहाँ क्यों रक्खूँ? नहीं रखता!

मिरजा—क्यों न रखियेगा? आपको रखना होगा!

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था, न वह! अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिरजा बोले—किसी ने ख़ानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किये आप शतरंज क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने से ही कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर—क्या! घास आप के अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आ रहे हैं।

मिरजा—अजी, जाइए भी, ग़ाज़िउद्दीन हैदर के यहाँ बावरची का काम करते करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं है।

मीर—क्यों अपने बुजुर्गों के मुँह कालिख लगाते हो—वे ही बावरची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आए हैं।

मिरजा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़ कर बातें न कर।

मीर—ज़बान संभालिये वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाईं कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला?

मिरजा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर

आइए, आज दो-दो हाथ हो जाँय, इधर या उधर !

मीर—तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन है ?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था; सभी तलवार, पेशक़ब्ज, कटार वग़ैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे; पर कायर न थे। उनमें राजनैतिक भावों का अधःपतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें; पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनों ज़ख्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़प कर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्हीं दोनों प्राणियों ने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिये।

अँधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे हुए मानों इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। खँडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूल-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखतीं और सिर धुनती थीं।

२—प्रेरणा

(१)

मेरी कक्षा में सूर्यप्रकाश से ज्यादा ऊधमी कोई लड़का न था, बल्कि यों कहो कि अध्यापन-काल के दस वर्षों में मुझे ऐसी विषम प्रकृति के शिष्य से साबका न पड़ा था। कपट-क्रीड़ा में उसकी जान बसती थी। अध्यापकों को बनाने और चिढ़ाने, उद्योगी बालकों को छेड़ने और रुलाने में ही उसे आनन्द आता था। ऐसे-ऐसे षड्यन्त्र रचता, ऐसे-ऐसे फन्दे डालता, ऐसे-ऐसे बाँधनू बाँधता कि देखकर आश्चर्य होता था। गरोहबन्दी में अभ्यस्त था। खुदाई फ़ौजदारों की एक फ़ौज बना ली थी, और उसके आतंक से शाला पर शासन करता था। मुख्य अधिष्ठाता की आज्ञा टल जाय, मगर क्या मजाल कि कोई उसके हुक्म की अवज्ञा कर सके। स्कूल के चपरासी और अर्दली उससे थरथर काँपते थे। इन्सपेक्टर का मुआइना होने वाला था,

मुख्य अधिष्ठाता ने हुक्म दिया कि लड़के निर्दिष्ट समय से आध घंटा पहले आ जायँ। मतलब यह था कि लड़कों को मुआइने के बारे में कुछ ज़रूरी बातें बता दी जायँ। मगर दस बज गये, इन्सपेक्टर साहब आकर बैठ गये, और मदरसे में एक लड़का भी नहीं! ग्यारह बजे सब छात्र इस तरह निकल पड़े, जैसे कोई पिंजरा खोल दिया गया हो। इन्सपेक्टर साहब ने कैफ़ियत में लिखा—डिसिप्लिन बहुत ख़राब है। प्रिन्सिपल साहब की किरकिरी हुई, अध्यापक बदनाम हुए। और यह सारी शरारत सूर्यप्रकाश की थी; मगर बहुत पूछ-ताछ करने पर भी किसी ने सूर्यप्रकाश का नाम तक न लिया। मुझे अपनी संचालन-विधि पर गर्व था। ट्रेनिंग कालेज में इस विषय में मैंने ख्याति प्राप्त की थी, मगर यहां मेरा सारा संचालन कौशल जैसे मोर्चा खा गया था। कुछ अक्ल ही काम न करती कि इस शैतान को कैसे सन्मार्ग पर लायें। कई बार अध्यापकों की बैठक हुई; पर यह गिरह न खुली। नई शिक्षाविधि के अनुसार मैं दण्डनीति का पक्षपाती न था; मगर यहाँ हम इस नीति से केवल इस लिए विरक्त थे कि कहीं उपचार रोग से भी असाध्य न हो जाय। सूर्यप्रकाश को स्कूल से निकाल देने का प्रस्ताव भी किया गया; पर इसे अपनी अयोग्यता

का प्रमाण समझ कर हम इस नीति के व्यवहार करने का साहस न कर सके। बीस-बाईस अनुभवी और शिक्षण शास्त्र के आचार्य एक बारह-तेरह साल के उद्दण्ड बालक का सुधार न कर सकें, यह विचार बहुत ही निराशाजनक था। यों तो सारा स्कूल उससे त्राहि-त्राहि करता था; मगर सब से ज़्यादा संकट में मैं था; क्योंकि वह मेरी कक्षा का छात्र था, और उसकी शरारतों का कुफल मुझे भोगना पड़ता था। मैं स्कूल आता तो हरदम यही खटका लगा रहता था कि देखें आज क्या विपत्ति आती है। एक दिन मैंने अपनी मेज़ की दराज़ खोली, तो उसमें से एक बड़ा-सा मेंढक निकल पड़ा। मैं चौंक कर पीछे हटा तो क्लास में एक शोर मच गया। उसकी ओर सरोप नेत्रों से देख कर रह गया। सारा घंटा उपदेश में बीत गया और वह पट्ठा सिर झुकाए नीचे मुसकरा रहा था। मुझे आश्चर्य होता था कि वह नीचे की कक्षाओं से कैसे पास हुआ था। एक दिन मैंने गुस्से से कहा—"तुम इस कक्षा से उम्र-भर पास नहीं हो सकते।" सूर्यप्रकाश ने अविचलित भाव से कहा—"आप मेरे पास होने की चिन्ता न करें। मैं हमेशा पास हुआ हूँ और अब की भी हूँगा।"

"असम्भव"

"असम्भव सम्भव हो जायगा !"

मैं साश्चर्य उसका मुँह देखने लगा। ज़हीन से ज़हीन लड़का भी अपनी सफलता का दावा इतने निर्विवादरूप से न कर सकता था। मैंने सोचा, यह प्रश्नपत्र उड़ा लेता होगा। मैंने प्रतिज्ञा की, अबकी इसकी एक चाल भी न चलने दूँगा। देखूँ, कितने दिन इस कक्षा में पड़ा रहता है। आप घबरा कर निकल जायगा।

वार्षिक परीक्षा के अवसर पर मैंने असाधारण देख-भाल से काम लिया; मगर जब सूर्यप्रकाश का उत्तरपत्र देखा, तो मेरे विस्मय की सीमा न रही। मेरे दो पर्चे थे, दोनों ही में उसके नम्बर कक्षा में सब से अधिक थे। मुझे खूब मालूम था कि वह मेरे किसी पर्चे का कोई प्रश्न भी हल नहीं कर सकता। मैं इसे सिद्ध कर सकता था; मगर उसके उत्तरपत्रों को क्या करता ! लिपि में इतना भेद न था जो कोई सन्देह उत्पन्न कर सकता। मैंने प्रिन्सिपल से कहा, तो वह भी चकरा गए; मगर उन्हें भी जान-बूझ कर मक्खी निगलनी पड़ी। मैं कदाचित् स्वभाव से ही निराशा-वादी हूं। अन्य अध्यापकों को मैं सूर्यप्रकाश के विषय में ज़रा भी चिन्तित न पाता था। मानो ऐसे लड़कों का स्कूल में आना कोई नई बात नहीं; मगर मेरे लिए वह एक

विकट रहस्य था। अगर उसके यही ढंग रहे, तो एकदिन या तो जेल में होगा या पागलख़ाने में।

(२)

उसी साल मेरा तबादला हो गया। यद्यपि यहाँ का जलवायु मेरे अनुकूल था, प्रिंसिपल और अन्य अध्यापकों से मैत्री हो गई थी; मगर मैं अपने तबादले से खुश हुआ; क्योंकि सूर्यप्रकाश मेरे मार्ग का काँटा न रहेगा। लड़कों ने मुझे बिदाई की दावत दी, और सब के सब मुझे स्टेशन तक पहुँचाने आए। उस वक्त सभी लड़के आँखों में आँसू भरे हुए थे। मैं भी अपने आँसुओं को न रोक सका। सहसा मेरी निगाह सूर्यप्रकाश पर पड़ी, जो सब से पीछे लज्जित ख़ड़ा था। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी आँखें भी भीजी थीं। मेरा जी बार-बार चाहता था कि चलते-चलाते दो-चार बातें उससे कर लूँ। शायद वह भी मुझ से कुछ कहना चाहता था; मगर न मैंने पहले बातें कीं, न उसने। हालाँकि मुझे बहुत दिनों तक इसका खेद रहा। उसकी झिझक तो क्षमा के योग्य थी, पर मेरा अवरोध अक्षम्य था। सम्भव था, उस करुणा और ग्लानि की दशा में मेरी दो-चार निष्कपट बातें उसके दिल पर असर कर जातीं; मगर इन्हीं खोए हुए अवसरों का नाम तो

जीवन है। गाड़ी मन्दगति से चली। लड़के कई कदम तक उसके साथ दौड़े। मैं खिड़की के बाहर सर निकाले खड़ा था। कुछ देर तक मुझे उनके हिलते हुए रूमाल नज़र आए। फिर वह रेखाएँ आकाश में विलीन हो गईं; मगर एक अल्पकाय मूर्ति अब भी प्लेटफार्म पर खड़ी थी। मैंने अनुमान किया, वह सूर्यप्रकाश है। उस समय मेरा हृदय विकल कैदी की भाँति घृणा, मालिन्य और उदासीनता के बन्धनों को तोड़-तोड़ कर उससे गले मिलने के लिए तड़प उठा।

नये स्थान की नई चिन्ताओं ने बहुत जल्द मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया। पिछले दिनों की याद एक हसरत बन कर रह गई। न किसी का कोई ख़त आया, न मैंने कोई ख़त लिखा। शायद दुनिया का यही दस्तूर है। वर्षों के बाद वर्षा की हरियाली कितने दिनों रहती है। संयोग से मुझे इंग्लैण्ड में विद्याभ्यास करने का अवसर मिल गया। वहाँ तीन साल लग गए। वहाँ से लौटा, तो एक कालेज का प्रिन्सिपल बना दिया गया। यह सिद्धि मेरे लिए बिलकुल आशातीत थी। मेरी भावना स्वप्न में भी इतनी दूर न उड़ी थी; किन्तु पदलिप्सा अब किसी और भी ऊँची डाली पर आश्रय लेना चाहती थी। शिक्षा-मन्त्री से रब्त-ज़ब्त पैदा

किया। मन्त्री महोदय मुझ पर कृपा रखते थे। मगर वास्तव में शिक्षा के मौलिक सिद्धान्तों का उन्हें ज्ञान न था। मुझे पाकर उन्होंने सारा भार मेरे ऊपर डाल दिया। घोड़े पर सवार वह थे, लगाम मेरे हाथ में थी। फल यह हुआ कि उनके राजनैतिक विपक्षियों से मेरा विरोध हो गया। मुझ पर जा-बेजा आक्रमण होने लगे। मैं सिद्धान्त-रूप से अनिवार्य शिक्षा का विरोधी हूँ। मेरा विचार है कि हरएक मनुष्यको उन विषयोंमें ज्यादा से ज्यादा स्वाधीनता होनी चाहिये, जिनका उससे निजका सम्बन्ध है। मेरा विचार है कि यूरोपमें अनिवार्य शिक्षाकी ज़रूरत है, भारत में नहीं। भौतिकता पश्चिमी सभ्यता का मूल तत्व है। वहाँ किसी काम की प्रेरणा आर्थिक लाभ के आधार पर होती है। ज़िन्दगी की ज़रूरतें ज्यादा हैं, इसलिए जीवन-संग्राम भी अधिक भीषण है। माता-पिता भोग के दास होकर बच्चों को जल्द से जल्द कुछ कमाने पर मजबूर करते हैं। इसकी जगह कि वह मद का त्याग करके एक शिलिंग रोज की बचत कर लें, वे अपने कमसिन बच्चे को एक शिलिंग की मज़दूरी करने के लिए दबायेंगे। भारतीय जीवन में सात्विक सरलता है। हम उस वक्त तक अपने बच्चों से मज़दूरी नहीं कराते, जब तक कि परिस्थिति हमें विवश न करदे। दरिद्र

से दरिद्र हिन्दुस्तानी मज़दूर भी शिक्षा के उपकारों का कायल है। उसके मन में यही अभिलाषा होती है कि मेरा बच्चा चार अक्षर पढ़ जाय। इसलिए नहीं कि उसे कोई अधिकार मिलेगा, बल्कि केवल इसलिए कि विद्या मानवी शील का एक श्रृंगार है। अगर यह जानकर भी वह अपने बच्चे को मदरसे नहीं भेजता, तो समझ लेना चाहिये कि वह मजबूर है। ऐसी दशा में उसपर कानून का प्रहार करना मेरी दृष्टि में न्याय-संगत नहीं। इसके सिवाय मेरे विचार में अभी हमारे देश में योग्य शिक्षकों का अभाव है। अर्द्ध-शिक्षित और अल्प वेतन पानेवाले अध्यापकों से आप यह आशा नहीं रख सकते कि वह कोई ऊँचा आदर्श अपने सामने रख सकें। अधिक से अधिक इतना ही होगा कि चार-पांच वर्ष में बालक को अक्षर ज्ञान हो जायगा। मैं इसे पर्वत मथकर चुहिया निकालने के तुल्य समझता हूँ। वयस प्राप्त हो जानेपर यह मरहला एक महीने में आसानी से तय किया जा सकता है। मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि युवावस्था में हम जितना ज्ञान एक महीने में प्राप्त कर सकते हैं, उतना बाल्यावस्था में तीन साल में भी नहीं कर सकते, फिर खामख्वाह बच्चों को मदरसे में कैद करने से क्या लाभ ? मदरसे के बाहर रहकर उसे स्वच्छ

वायु तो मिलती, प्राकृतिक अनुभव तो होते। पाठशाला में बंद करके तो आप उसके मानसिक और शारीरिक दोनों ही विधानों की जड़ काट देते हैं। इसलिए जब प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा में अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव पेश हुआ, तो मेरी प्रेरणा से मिनिस्टर साहब ने उसका विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। फिर क्या था, मिनिस्टर साहब की और मेरी वह ले दे शुरू हुई कि कुछ न पूछिये। व्यक्तिगत आक्षेप किये जाने लगे। मैं ग़रीब की बीबी था, मुझे ही सब की भावी बनना पड़ा। मुझे देश-द्रोही, उन्नति का शत्रु और नौकरशाही का ग़ुलाम कहा गया। मेरे कालेज में ज़रासी भी कोई बात होती, तो कौंसिल में मुझ पर प्रश्नों की वर्षा होने लगती। मैंने एक चपरासी को पृथक् किया। सारा कौंसिल पंजे झाड़कर मेरे पीछे पड़ गया। आख़िर मिनिस्टर को मजबूर होकर उस चपरासी को बहाल करना पड़ा। यह अपमान मेरे लिए असह्य था। शायद कोई भी इसे सहन न कर सकता। मिनिस्टर साहब से मुझे शिकायत नहीं। वह मजबूर थे। हाँ, इस वातावरण में काम करना मेरे लिए दुस्साध्य हो गया। मुझे अपने कालेज के आन्तरिक 'संगठन का भी अधिकार नहीं। अमुक क्यों नहीं परीक्षा में भेजा गया,

अमुक के बदले अमुक को क्यों नहीं छात्रवृत्ति दी गई, अमुक अध्यापक को अमुक कक्षा क्यों नहीं दी जाती, इस तरह के सारहीन आक्षेपों ने मेरा नाक में दम कर दिया था। इस नई चोट ने कमर तोड़ दी। मैंने इस्तीफ़ा दे दिया।

मुझे मिनिस्टर साहब से इतनी आशा अवश्य थी कि वह कम से कम इस विषय में न्यायपरायणता से काम लेंगे; मगर उन्हों ने न्याय की जगह नीति को मान्य समझा, और मुझे कई साल की भक्ति का यह फल मिला कि मैं पदच्युत कर दिया गया। संसार का ऐसा कटु अनुभव मुझे अबतक न हुआ था। ग्रह भी कुछ बुरे आ गए थे, उन्हीं दिनों पत्नी का देहान्त हो गया। अन्तिम दर्शन भी न कर सका। सन्ध्या-समय नदी तट पर सैर करने गया था। वह कुछ अस्वस्थ थीं। लौटा तो उनकी लाश मिली। कदाचित् हृदय की गति बन्द हो गई थी। इस आघात ने कमर तोड़ दी। माता के प्रसाद और आशीर्वाद से बड़े-बड़े महान् पुरुष कृतार्थ हो गए हैं। मैं जो कुछ हुआ पत्नी के प्रसाद और आशीर्वाद से हुआ। वह मेरे भाग्य की विधात्री थी। कितना अलौकिक त्याग था, कितना विशाल धैर्य। उसके माधुर्य में तीक्ष्णता का नाम भी न था। मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी उसकी भृकुटि संकुचित

देखी हो। निराश होना तो जानती ही न थी। मैं कई बार सख्त बीमार पड़ा हूँ। वैद्य भी निराश हो गये हैं, पर वह अपने धैर्य और शान्ति से अणुमात्र भी विचलित नहीं हुई। उसे विश्वास था कि मैं अपने पति के जीवनकाल में मरूँगी और वही हुआ भी। मैं जीवन में अबतक उसी के सहारे खड़ा था। जब वह अवलम्ब ही न रहा, तो जीवन कहाँ रहता। खाने और सोने का नाम जीवन नहीं है। जीवन नाम है सदैव आगे बढ़ते रहने की लगन का। वह लगन ग़ायब हो गई। मैं संसार से विरक्त हो गया। और एकान्तवास में जीवन के दिन व्यतीत करने का निश्चय करके एक छोटे से गाँव में जा बसा। चारों तरफ ऊँचे ऊँचे टीले थे, एक ओर गंगा बहती थी। मैंने नदी के किनारे एक छोटा सा घर बना लिया और उसी में रहने लगा।

(३)

मगर काम करना तो मानवी स्वभाव है। बेकारी में जीवन कैसे कटता। मैंने एक छोटी सी पाठशाला खोल ली। एक वृक्ष की छाँह में गाँव में लड़कों को जमा कर कुछ पढ़ाया करता था। उसकी यहाँ इतनी ख्याति हुई कि आस-पास के गाँव के छात्र भी आने लगे।

एक दिन मैं अपनी कक्षा को पढ़ा रहा था कि पाठशाला के पास एक मोटर आकर रुकी और उसमें से उस ज़िले के डिप्टी कमिश्नर उतर पड़े। मैं उस समय केवल एक कुर्ता और धोती पहने हुए था। इस वेष में एक हाकिम से मिलते हुए शर्म आ रही थी। डिप्टी कमिश्नर मेरे समीप आये तो मैंने झेंपते हुए हाथ बढ़ाया, मगर वह मुझ से हाथ मिलाने के बदले मेरे पैरों की ओर झुके और उन पर सिर रख दिया। मैं कुछ ऐसा सिटपिटा गया कि मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। मैं अँगरेज़ी अच्छी लिखता हूँ, दर्शनशास्त्र का भी आचार्य हूँ, व्याख्यान भी अच्छे दे लेता हूँ, मगर इन गुणों में एक भी श्रद्धा के योग्य नहीं। श्रद्धा तो ज्ञानियों और साधुओं ही के अधिकार की वस्तु है। अगर मैं ब्राह्मण होता तो एक बात थी। हालाँकि एक सिविलियन का किसी ब्राह्मण के पैरों पर सिर रखना अचिन्तनीय है।

मैं अभी इसी विस्मय में पड़ा हुआ था कि डिप्टी कमिश्नर ने सिर उठाया और मेरी तरफ़ देख कर कहा—"आपने शायद मुझे पहचाना नहीं।"

इतना सुनते ही मेरे स्मृति-नेत्र खुल गये, बोला—"आपका नाम सूर्यप्रकाश तो नहीं है?"

"जी हाँ, मैं आपका वही अभागा शिष्य हूँ।"

"बारह-तेरह वर्ष होगये!"

सूर्यप्रकाश ने मुसकरा कर कहा—अध्यापक लड़कों को भूल जाते हैं, पर लड़के उन्हें हमेशा याद रखते हैं।"

मैंने उसी विनोद के भाव से कहा—"तुम जैसे लड़कों को भूलना असम्भव है।"

सूर्यप्रकाश ने विनीत स्वर में कहा—"उन्हीं अपराधों को क्षमा कराने के लिए सेवा में आया हूँ। मैं सदैव आपकी ख़बर लेता रहता था। जब आप इंग्लैण्ड गये तो मैंने आपके लिए बधाई का पत्र लिखा, पर उसे भेज न सका। जब आप प्रिन्सिपल हुए मैं इंग्लैण्ड जाने को तैयार था, वहाँ मैं पत्रिकाओं में आपके लेख पढ़ता रहता था। जब लौटा तो मालूम हुआ कि आपने इस्तीफा दे दिया और कहीं देहात में चले गये हैं। इस ज़िले में आये हुए मुझे एक वर्ष से अधिक हुआ; पर इसका ज़रा भी अनुमान न था कि आप यहाँ एकान्त सेवन कर रहे हैं। इस ऊजड़ गाँव में आपका जी कैसे लगता है? इतनी ही अवस्था में आपने वानप्रस्थ ले लिया?

मैं नहीं कह सकता कि सूर्यप्रकाश की उन्नति देख कर मुझे कितना आश्चर्यमय आनन्द हुआ। अगर वह मेरा

पुत्र होता, तो भी इससे अधिक आनन्द न होता। मैं उसे अपने झोंपड़े में लाया और उसे संक्षेप में अपनी रामकहानी कह सुनाई।

सूर्यप्रकाश ने कहा—"तो यह कहिए कि आप अपने ही एक भाई के विश्वासघात का शिकार हुए। मेरा अनुभव तो अभी बहुत कम है; मगर इतने ही दिनों में मुझे मालूम होगया है कि हम लोग अभी अपनी ज़िम्मेदारियों को पूरा करना नहीं जानते। मिनिस्टर साहब से भेंट हुई तो पूछूँगा कि क्या यही आपका धर्म था?"

मैंने जवाब दिया—"भाई, उनका कोई दोष नहीं। सम्भव है इस दशा में मैं भी वही करता जो उन्होंने किया। मुझे अपने स्वार्थ-लिप्सा की सज़ा मिल गई, और उसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ। बनावट नहीं, सत्य कहता हूँ कि यहाँ मुझे जो शान्ति है, वह और कहीं न थी। इस एकान्त जीवन में मुझे जीवन के तत्वों का वह ज्ञान हुआ, जो सम्पत्ति और अधिकार की दौड़ में किसी तरह सम्भव न था। इतिहास और भूगोल के पोथे चाट कर और यूरूप के विद्यालयों की शरण जा कर भी मैं अपनी ममता को न मिटा सका; बल्कि यह रोग दिन-दिन और भी असाध्य होता जाता था। आप सीढ़ियों पर पाँव रखे बग़ैर छत की ऊँचाई

तक नहीं पहुँच सकते। सम्पत्ति की अट्टालिका तक पहुँचने में दूसरों की ज़िन्दगी ही जीनों का काम देती है। आप उन्हें कुचलकर ही लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। वहाँ सौजन्य और सहानुभूति का स्थान ही नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि उस वक्त मैं हिंस्र जन्तुओं से घिरा हुआ था और मेरी सारी शक्तियाँ अपनी आत्मरक्षा में ही लगी रहती थीं। यहाँ मैं अपने चारों ओर सन्तोप और सरलता देखता हूँ। मेरे पास जो लोग आते हैं, कोई स्वार्थ लेकर नहीं आते और न मेरी सेवाओं में प्रशंसा या गौरव की लालसा है।"

यह कहकर मैंने सूर्यप्रकाश के चेहरे की ओर गौर से देखा। कपट मुसकान की जगह ग्लानि का रंग था। मुझ से सन्तोप का उपदेश लेने वह मेरे पास नहीं आया था। शायद यह दिखाने आया था कि आप जिसकी तरफ़ से इतने निराश हो गये थे, वह अब इस पद को सुशोभित कर रहा है। वह मुझ से अपने सदुद्योग का बखान चाहता था। मुझे अब अपनी भूल मालूम हुई। एक सम्पन्न आदमी के सामने समृद्धि की निन्दा उचित नहीं। मैंने तुरन्त बात पलट कर कहा—"मगर तुम अपना हाल तो कहो। तुम्हारी यह काया पलट कैसे हुई। तुम्हारी शरारतों को

याद करता हूँ तो अब भी रोएँ खड़े हो जाते हैं। किसी देवता के वरदान के सिवा और तो कहीं यह विभूति न प्राप्त हो सकती थी।"

सूर्यप्रकाश ने मुसकरा कर कहा—"आपका आशीर्वाद था"।

मेरे बहुत आग्रह करने पर सूर्यप्रकाश ने अपना वृत्तान्त सुनाना शुरू किया।

"आपके चले आने के कई दिन बाद मेरा ममेरा भाई स्कूल में दाखिल हुआ। उसकी आयु आठ-नौ साल से ज्यादा न थी। प्रिंसिपल साहब उसे होस्टल में न लेते थे और न मामा साहब उसके ठहरने का प्रबन्ध कर सकते थे। उन्हें इस संकट में देखकर मैंने प्रिंसिपल साहब से कहा—उसे मेरे कमरे में ठहरा दीजिये। प्रिंसिपल साहब ने इसे नियमविरुद्ध बतलाया। इस पर मैंने बिगड़ कर उसी दिन होस्टल छोड़ दिया, और एक किराये का मकान लेकर मोहन के साथ रहने लगा। उसकी माँ कई साल पहले मर चुकी थी। इतना दुबला-पतला, कमज़ोर और ग़रीब लड़का था कि पहले ही दिन से मुझे उस पर दया आने लगी। कभी उसके सिर में दर्द होता, कभी ज्वर हो आता। आये दिन कोई-न-कोई बीमारी खड़ी रहती

थी। इधर सांझ हुई और उसे झपकियाँ आने लगीं। बड़ी मुश्किल से भोजन करने उठता। दिन चढ़े तक सोया करता और जब तक मैं गोद में उठाकर बिठा न देता, उठने का नाम न लेता। रात को बहुधा चौंककर मेरी चारपाई पर आ जाता और मेरे गले से लिपट कर सोता। मुझे उस पर कभी क्रोध न आता। कह नहीं सकता, क्यों मुझे उससे प्रेम हो गया। मैं जहाँ पहले नौ बजे सोकर उठा करता था, अब तड़के उठ बैठता और उसके लिए दूध गर्म करता। फिर उसे उठाकर हाथ-मुँह धुलाता और नाश्ता कराता। उसके स्वास्थ्य के विचार से नित्य वायु-सेवन को ले जाता। मैं जो कभी किताब लेकर न बैठता था, उसे घंटों पढ़ाया करता। मुझे अपने दायित्वका इतना ज्ञान कैसे हो गया, इसका मुझे आश्चर्य है। उसे कोई शिकायत हो जाती, तो मेरे प्राण नहों में समा जाते। डाक्टर के पास दौड़ता, दवाएँ लाता और मोहन की खुशामद करके दवा पिलाता। सदैव यह चिन्ता लगी रहती थी कि कोई बात उसकी इच्छा के विरुद्ध न हो जाय। इस बेचारे का यहाँ मेरे सिवा दूसरा कौन है। मेरे चंचल मित्रों में से कोई उसे चिढ़ाता या छेड़ता, तो मेरी त्योरियाँ बदल जाती थीं। कई लड़के तो मुझे बूढ़ी दाई कहकर

चिढ़ाते थे, पर मैं हँसकर टाल देता था। मैं उसके सामने एक अनुचित शब्द भी मुँह से न निकालता। यह शंका होती थी कि कहीं मेरी देखादेखी यह भी ख़राब न हो जाय। मैं उसके सामने इस तरह रहना चाहता था कि वह मुझे अपना आदर्श समझे और इसके लिए यह मानी हुई बात थी कि मैं अपना चरित्र सुधारूँ। वह मेरा नौ बजे सोकर उठना, बारह बजे तक मटरगश्ती करना, नई-नई शरारतों के मन्सूबे बाँधना और अध्यापकों की आँख बचा-कर स्कूल से उड़ जाना, सब आप-ही-आप जाता रहा। स्वास्थ्य और चरित्र पालन के सिद्धान्तों का मैं शत्रु था। पर अब मुझ से बढ़कर उन नियमों का रक्षक दूसरा न था। मैं ईश्वर का उपहास किया करता था, मगर अब पक्का आस्तिक हो गया था। वह बड़े सरल भाव से पूछता, परमात्मा सब जगह रहते हैं, तो मेरे पास भी रहते होंगे। इस प्रश्न का मज़ाक उड़ाना मेरे लिए असम्भव था। मैं कहता—हाँ परमात्मा तुम्हारे, हमारे सब के पास रहते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। यह आश्वासन पाकर उसका चेहरा आनन्द से खिल उठता था। कदाचित् वह परमात्मा की सत्ता का अनुभव करने लगता था। साल ही भर में मोहन कुछ से कुछ हो गया। मामा साहब दोबारा आये

तो उसे देखकर चकित हो गये। आँखों में आँसू भरकर बोले—बेटा! तुमने इसको जिला लिया, नहीं तो मैं निराश हो चुका था। इसका पुनीत फल तुम्हें ईश्वर देंगे। इसकी माँ स्वर्ग में बैठी हुई तुम्हें आशीर्वाद दे रही है।

सूर्यप्रकाश की आँखें उस वक्त भी सजल हो गई थीं।

मैंने पूछा—'मोहन भी तुम्हें बहुत प्यार करता होगा?'

सूर्यप्रकाश के सजल नेत्रों में हसरत से भरा हुआ आनन्द चमक उठा, बोला—"वह मुझे एक मिनट के लिए भी न छोड़ता था। मेरे साथ बैठता, मेरे साथ खाता, मेरे साथ सोता। मैं ही उसका सब कुछ था। आह! वही संसार में नहीं है! मगर मेरे लिए वह अब भी उसी तरह जीता-जागता है। मैं जो कुछ हूँ, उसीका बनाया हुआ हूँ। अगर वह दैवी विधान की भाँति मेरा पथ-प्रदर्शक न बन जाता, तो शायद आज मैं किसी जेल में पड़ा होता। एक दिन मैंने कह दिया था—अगर तुम रोज़ नहा न लिया करोगे तो मैं तुमसे न बोला करूँगा। नहाने से न जाने वह क्यों जी चुराता था। मेरी इस धमकी का फल यह हुआ कि वह नित्य प्रातःकाल नहाने लगा। कितनी ही सर्दी क्यों न हो, कितनी ही ठंडी हवा चले, लेकिन वह स्नान अवश्य करता था। देखता रहता था, मैं किस बात

से खुश होता हूँ। एक दिन मैं कई मित्रों के साथ थियेटर देखने चला गया, ताकीद कर गया था कि तुम खाना खाकर सो रहना। तीन बजे रात को लौटा तो देखा कि वह बैठा हुआ है। मैंने पूछा—तुम सोये नहीं? बोला—नींद नहीं आई। उस दिन से मैंने थियेटर जाने का नाम न लिया। बच्चों में प्यार की जो एक भूख होती है—दूध, मिठाई और खिलौनों से भी ज्यादा मादक—जो माँ की गोद के सामने संसार के निधि की भी परवाह नहीं करते, मोहन की वह भूख कभी सन्तुष्ट न होती थी। पहाड़ों से टकरानेवाली सारस की आवाज़ की तरह वह सदैव उसके नसों में गूँजा करती थी। जैसे भूमि पर फैली हुई लता कोई सहारा पाते ही उससे चिपट जाती है, वही हाल मोहन का था। वह मुझ से ऐसा चिपट गया था कि पृथक् किया जाता, तो उसकी कोमल बेलि के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। वह मेरे साथ तीन साल रहा और तब मेरे जीवन में प्रकाश की एक रेखा सी डालकर अन्धकार में विलीन हो गया। उस जीर्ण काया में कैसे-कैसे अरमान भरे हुए थे। कदाचित् ईश्वर ने मेरे जीवन में एक अवलम्ब की सृष्टि करने के लिए उसे भेजा था। जब वह उद्देश्य पूरा हो गया तो वह क्यों रहता।

(४)

गरमियों की तातील थी। दो तातीलों में मोहन मेरे ही साथ रहा था। मामा जी के आग्रह करने पर भी घर न गया। अबकी कालेज के छात्रों ने काश्मीर-यात्रा करने का निश्चय किया और मुझे उसका अध्यक्ष बनाया। काश्मीर-यात्रा की अभिलाषा मुझे चिरकाल से थी। इस अवसर को ग़नीमत समझा। मोहन को मामा जी के पास भेजकर मैं काश्मीर चला गया। दो महीने के बाद लौटा तो मालूम हुआ मोहन बीमार है। काश्मीर में मुझे बार-बार मोहन की याद आती थी और जी चाहता था लौट जाऊँ। मुझे उस पर इतना प्रेम है, इसका अन्दाज़ मुझे काश्मीर जाकर हुआ; लेकिन मित्रों ने पीछा न छोड़ा। उसकी बीमारी की ख़बर पाते ही मैं अधीर हो उठा और दूसरे ही दिन उसके पास जा पहुँचा। मुझे देखते ही उसके पीले और सूखे हुए चेहरे पर आनन्द की स्फूर्ति झलक पड़ी। मैं दौड़कर उसके गले से लिपट गया। उसकी आँखों में वह दूरदृष्टि और चेहरे पर वह अलौकिक आभा थी, जो मँडराती हुई मृत्यु की सूचना देती है। मैंने आवेश से काँपते हुए स्वर में पूछा—यह तुम्हारी क्या दशा है मोहन ? दो ही महीने में यह नौबत पहुँच गई ? मोहन ने सरल मुसकान के साथ

कहा—'आप काश्मीर की सैर करने गए थे, मैं आकाश की सैर करने जा रहा हूँ।'

मगर यह दुःख-कहानी कह कर मैं रोना और रुलाना नहीं चाहता। मेरे चले जाने के बाद मोहन इतने परिश्रम से पढ़ने लगा, मानों तपस्या कर रहा हो। उसे यह धुन सवार हो गई थी कि साल-भर की पढ़ाई दो महीने में समाप्त और स्कूल खुलने के बाद मुझ से इस श्रम का प्रशंसारूपी उपहार प्राप्त करे। मैं किस तरह उसकी पीठ ठोकूँगा, शाबाशी दूँगा, अपने मित्रों से उसका बखान करूँगा, इन भावनाओं ने अपने सारे बालोचित उत्साह और तल्लीनता के साथ उसे वशीभूत कर लिया। मामा जी को दफ़्तर के कामों से इतना अवकाश कहाँ कि उसके मनो-रंजन का ध्यान रखें। शायद उसे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ पढ़ते देखकर वह दिल में खुश होते थे। उसे खेलते देख-कर वह ज़रूर डाँटते। पढ़ते देखकर भला क्या कहते। फल यह हुआ कि मोहन को हल्का-हल्का ज्वर आने लगा, किन्तु उस दशा में भी उसने पढ़ना न छोड़ा। कुछ और व्यतिक्रम भी हुए, ज्वर का प्रकोप और भी बढ़ा, पर उस दशा में भी जब ज्वर कुछ हल्का हो जाता तो किताबें देखने लगता था। उसके प्राण मुझ में ही बसे रहते थे। ज्वर

की दशा में भी नौकरों से पूछता—'भैया का पत्र आया ? वह कब आयँगे ?' इसके सिवा और कोई दूसरी अभिलाषा न थी। अगर मुझे मालूम होता कि मेरी काश्मीर-यात्रा इतनी महँगी पड़ेगी, तो उधर जाने का नाम भी न लेता। उसे बचाने के लिए मुझ से जो कुछ हो सकता था, वह मैंने सब किया, किन्तु बुखार टाइफायड था, उसकी जान लेकर ही उतरा। उसके जीवन के स्वप्न मेरे लिए किसी ऋषि के आशीर्वाद बन कर मुझे प्रोत्साहित करने लगे और यह उसी का शुभ फल है कि आज आप मुझे इस दशा में देख रहे हैं। मोहन की बाल अभिलाषाओं को प्रत्यक्ष रूप में लाकर मुझे यह सन्तोष होता है कि शायद उसकी पवित्र आत्मा मुझे देखकर प्रसन्न होती हो। यही प्रेरणा थी जिसने कठिन-से-कठिन परीक्षाओं में भी मेरा बेड़ा पार लगाया, नहीं तो मैं आज भी वही मन्द-बुद्धि सूर्यप्रकाश हूँ, जिसकी सूरत से आप चिढ़ते थे।

उसी दिन से मैं कई बार सूर्यप्रकाश से मिल चुका हूँ, वह जब इस तरफ़ आ जाता है, तो बिना मुझसे मिले नहीं जाता। मोहन को अब भी वह अपना इष्टदेव समझता है। मानव-प्रकृति का यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे मैं आजतक नहीं समझ सका।

मंदिर और मसजिद

(१)

चौधरी इतरतअली 'कड़े' के बड़े जागीरदार थे। उनके बुज़ुर्गों ने शाही ज़माने में अँगरेज़ी सरकार की बड़ी-बड़ी सेवायें की थीं। उनके बदले में यह जागीर मिली थी। अपने सुप्रबन्ध से उन्होंने अपनी मिल्कियत और भी बढ़ा ली थी, और अब उस इलाक़े में उनसे ज्यादा कोई धनी-मानी आदमी न था। अँगरेज़ हुक्काम जब इलाक़े में दौरा करने जाते, तो चौधरी साहब की मिज़ाजपुरसी के लिये ज़रूर आते थे। मगर चौधरी साहब खुद किसी हाकिम को सलाम करने न जाते, चाहे वह कमिश्नर ही क्यों न हो। उन्होंने कचहरियों में न जाने का व्रत-सा कर लिया था। किसी इजलास-दरबार में भी न जाते थे। किसी हाकिम के सामने हाथ बाँधकर खड़ा होना और उसकी हरएक बात पर 'जी हुज़ूर' करना अपनी शान के ख़िलाफ़

समझते थे। वह यथासाध्य किसी मामले-मुक़दमे में न पड़ते थे, चाहे अपना नुक़सान ही क्यों न होता हो। यह काम सोलहों आने मुख़्तारों के हाथ में था, वे एक के सौ करें या सौ का एक। फ़ारसी और अरबी के आलिम थे, शरा के बड़े पाबंद, सूद को हराम समझते, पाँचों वक़्त की नमाज़ अदा करते, तीसों रोज़े रखते और नित्य कुरान का पाठ करते थे। मगर धार्मिक संकीर्णता कहीं छू तक न गई थी। प्रातःकाल गंगा-स्नान करना उनका नित्य का नियम था। पानी बरसे, पाला पड़े, पर पाँच बजे वह कोस-भर चलकर गंगा-तट पर अवश्य पहुँच जाते। लौटते वक़्त अपनी चाँदी की सुराही गंगाजल से भर लेते, और हमेशा गंगाजल पीते। गंगाजल के सिवा वह और कोई पानी पीते ही न थे। शायद कोई योगी-यती भी गंगाजल पर इतनी श्रद्धा न रखता होगा। उनका सारा घर, भीतर से बाहर तक, सातवें दिन गऊ के गोबर से लीपा जाता था। इतना ही नहीं, उनके यहाँ बग़ीचे में एक पंडित बारहों मास दुर्गा-पाठ भी किया करते थे। साधु-सन्यासियों का आदर-सत्कार तो उनके यहाँ जितनी उदारता और भक्ति से किया जाता था, उस पर राजों को भी आश्चर्य होता था। यों कहिये कि सदाव्रत चलता था। उधर

मुसलमान फ़क़ीरों का खाना बावरचीख़ाने में पकता था, और कोई सौ-सवा-सौ आदमी नित्य एक दस्तरख़्वान पर खाते थे। इतना दान-पुण्य करने पर भी उन पर किसी महाजन का एक कौड़ी का भी क़र्ज़ न था। नीयत की कुछ ऐसी बरकत थी कि दिन-दिन उन्नति ही होती थी। उनकी रियासत में आम हुक्म था कि मुरदों को जलाने के लिए, किसी यज्ञ या भोज के लिये, शादी-ब्याह के लिये, सरकारी जंगल से जितनी लकड़ी चाहो काट लो। चौधरी साहब से पूछने की ज़रूरत न थी। हिंदू आसामियों की बारात में उनकी ओर से कोई-न-कोई ज़रूर शरीक होता था। नेवते के रुपए बँधे हुए थे, लड़कियों के विवाह में कन्यादान के रुपये मुक़र्रर थे, उनका हाथी, घोड़े, तम्बू, शामियाने, पालकी-नालकी, फ़र्श-जाजिमें, पंखे-चँवर, चाँदी के महफ़िली सामान उनके यहाँ से बिना किसी दिक़्क़त के मिल जाते थे, माँगने-भर की देर रहती थी। इस दानी, उदार, यशस्वी आदमी के लिए प्रजा भी प्राण देने को तैयार रहती थी।

(२)

चौधरी साहब के पास एक राजपूत चपरासी था भजनसिंह। पूरे ६ फ़ुट का जवान था, चौड़ा सीना, बाने

का लठैत, सैकड़ों के बीच से मार कर निकल आनेवाला। उसे भय तो छू भी नहीं गया था। चौधरी साहब को उस पर असीम विश्वास था। यहाँ तक कि हज करने गए, तो उसे भी साथ लेते गए थे। उनके दुश्मनों की कमी न थी; आसपास के सभी जमींदार उनकी शक्ति और कीर्ति से जलते थे। चौधरी साहब के ख़ौफ़ के मारे वे अपने असामियों पर मनमाना अत्याचार न कर सकते थे; क्योंकि वह निर्बलों का पक्ष लेने के लिए सदा तैयार रहते थे। लेकिन भजनसिंह साथ हो, तो उन्हें दुश्मन के द्वार पर भी सोने में कोई शंका न थी। कई बार ऐसा हुआ कि दुश्मनों ने उन्हें घेर लिया, और भजनसिंह अकेला जान पर खेल कर उन्हें बेदाग़ निकाल लाया। ऐसा आग में कूद पड़ने वाला आदमी भी किसी ने कम देखा होगा। वह कहीं बाहर जाता, तो जबतक ख़ैरियत से घर न पहुँच जाय, चौधरी साहब को शंका बनी रहती थी कि कहीं किसी से लड़ न बैठा हो। बस, पालतू मेढ़े की-सी दशा थी, जो ज़ंजीर से छूटते ही किसी न-किसी से टक्कर लेने दौड़ता है। तीनों लोक में, चौधरी साहब के सिवा उसकी निगाहों में और कोई था ही नहीं। बादशाह कहो, मालिक कहो, देवता कहो, जो कुछ थे, चौधरी साहब थे।

मुसलमान लोग चौधरी साहब से जला करते थे। उनका ख़याल था कि वह अपने दीन से फिर गए हैं। ऐसा विचित्र जीवन-सिद्धान्त उनकी समझ में क्योंकर आता। मुसलमान अगर सच्चा मुसलमान है, तो गंगाजल क्यों पिए, साधुओं का आदर-सत्कार क्यों करे, दुर्गा-पाठ क्यों करावे ? मुल्लाओं में उनके ख़िलाफ़ हँडिया पकती रहती थी, और हिन्दुओं को ज़क देने की तैयारियाँ होती रहती थीं। आख़िर यह राय तै पाई कि ठीक जन्माष्टमी के दिन ठाकुर-द्वारे पर हमला किया जाय और हिन्दुओं का सिर नीचा कर दिया जाय; दिखा दिया जाय कि चौधरी साहब के बल पर फूले-फूले फिरना तुम्हारी भूल है। चौधरी साहब कर ही क्या लेंगे। अगर उन्होंने हिन्दुओं की हिमायत की, तो उनकी भी ख़बर ली जायगी, सारा हिन्दूपन निकल जायगा।

(३)

अँधेरी रात थी, कड़े के बड़े ठाकुरद्वारे में कृष्ण का जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। एक वृद्ध महात्मा पोपले मुँह से तम्बूरे पर ध्रुपद अलाप रहे थे। और भक्तजन ढोल-मजीरे लिए बैठे थे कि इनका गाना बन्द हो, तो हम अपना

कीर्तन शुरु करें। भंडारी प्रसाद बना रहा था। सैकड़ों आदमी तमाशा देखने के लिए जमा थे।

सहसा मुसलमानों का एक दल लाठियाँ लिए हुए आ पहुँचा, और मन्दिर पर पत्थर बरसाना शुरू किया। शोर मच गया—पत्थर कहाँ से आते हैं! ये पत्थर कौन फेंक रहा है! कुछ लोग मन्दिर के बाहर निकल कर देखने लगे। मुसलमान लोग तो घात में बैठे ही थे। लाठियाँ जमानी शुरू कीं। हिन्दुओं के हाथ में उस समय ढोल-मजीरे के सिवा और क्या था। कोई मन्दिर में आ छिपा, कोई किसी दूसरी तरफ़ भागा। चारों तरफ़ शोर मच गया।

चौधरी साहब को भी ख़बर हुई। भजनासिंह से बोले—ठाकुर, देखो तो क्या शोर-गुल है? जाकर बदमाशों को समझा दो, और न मानें तो दो-चार हाथ चला भी देना; मगर खून खच्चर न होने पाए।

ठाकुर यह शोर-गुल सुन-सुन कर दाँत पीस रहे थे, दिल पर पत्थर की सिल रक्खे बैठे हुए थे। यह आदेश सुना, तो मुँहमाँगी मुराद पाई। शत्रु-भंजन डंडा कन्धे पर रक्खा, और लपके हुए मन्दिर पहुँचे। वहाँ मुसलमानों ने घोर उपद्रव मचा रक्खा था। कई आदमियों का पीछा

करते हुए मन्दिर में घुस गए थे, और शीशे के सामान तोड़ फोड़ रहे थे।

ठाकुर की आँखों में खून उतर आया, सिर पर खून सवार हो गया। ललकारते हुए मंदिर में घुस गया, और बदमाशों को पीटना शुरू किया। एक तरफ़ तो वह अकेला, और दूसरी तरफ़ पचासों आदमी। लेकिन वाह रे शेर! अकेले सब के छक्के छुड़ा दिए, कई आदमियों को मार गिराया। गुस्से में उसे इस समय कुछ न सूझता था, किसी के मरने-जीने की परवाह न थी। मालूम नहीं, उसमें इतनी शक्ति कहाँ से आ गई थी। उसे ऐसा जान पड़ता था कि कोई दैवी शक्ति मेरी मदद कर रही है। कृष्ण भगवान् स्वयं उसकी रक्षा करते हुए मालूम होते थे। धर्म-संग्राम में मनुष्यों से अलौकिक काम हो जाते हैं।

उधर ठाकुर के चले आने के बाद चौधरी साहब को भय हुआ कि कहीं ठाकुर किसी का खून न कर डाले, उसके पीछे खुद भी मंदिर में आ पहुँचे। देखा तो कुहराम मचा हुआ है। बदमाश लोग अपनी जान ले-लेकर बेतहाशा भागे जा रहे हैं, कोई पड़ा कराह रहा है, कोई हाय-हाय कर रहा है। ठाकुर को पुकारना ही चाहते थे कि सहसा एक आदमी भागा हुआ आया, और उनके

सामने आता-आता ज़मीन पर गिर पड़ा। चौधरी साहब ने उसे पहचान लिया, और दुनिया उनकी आँखों में अँधेरी हो गई। यह उनका इकलौता दामाद और उनकी जायदाद का वारिस शाहिदहुसेन था!

चौधरी ने दौड़कर शाहिद को सँभाला और ज़ोर से बोले—ठाकुर, इधर आओ—लालटेन—लालटेन! आह, यह तो मेरा शाहिद है!

ठाकुर के हाथ-पाँव फूल गए। लालटेन लेकर बाहर निकले। शाहिदहुसेन ही थे। उनका सिर कट गया था और रक्त उछलता हुआ निकल रहा था।

चौधरी ने सिर पीटते हुए कहा—ठाकुर, तुमने तो मेरा चिराग़ ही गुल कर दिया।

ठाकुर ने थर-थर काँपते हुए कहा—मालिक, भगवान् जानते हैं, मैंने पहचाना नहीं।

चौधरी—नहीं मैं तुम्हारे ऊपर इलज़ाम नहीं रखता। भगवान् के मंदिर में किसी को घुसने का अख़्तियार नहीं है। अफ़सोस यही है कि ख़ानदान का निशान मिट गया, और तुम्हारे हाथों! तुमने मेरे लिये हमेशा अपनी जान हथेली पर रक्खी, और खुदा ने तुम्हारे ही हाथों मेरा सत्यानास करा दिया।

चौधरी साहब रोते जाते थे और ये बात कहते जाते थे। ठाकुर ग्लानि और पश्चाताप से गड़ा जाता था। अगर उसका अपना लड़का मारा गया होता, तो उसे इतना दुःख न होता। आह! मेरे हाथों मेरे मालिक का सर्वनाश हुआ! जिसके पसीने की जगह वह खून बहाने को तैयार रहता था, जो उसका स्वामी ही नहीं, इष्ट था, जिसके ज़रा-से इशारे पर वह आग में कूद सकता था, उसी के वंश की उसने जड़ काट दी! वह उसकी आस्तीन का साँप निकला! रुँधे हुए कंठ से बोला—सरकार, मुझसे बढ़कर अभागा और कौन होगा। मेरे मुँह में कालिख लग गई।

यह कहते-कहते ठाकुर ने कमर से छुरा निकाल लिया। वह अपनी छाती में छुरा खोंसकर कालिमा को रक्त से धोना ही चाहते थे कि चौधरी साहब ने लपककर छुरा उनके हाथ से छीन लिया और बोले—क्या करते हो, होश संभालो। ये तक़दीर के करिश्मे हैं, इसमें तुम्हारा कोई कसूर नहीं। खुदा को जो मंजूर था, वह हुआ। मैं अगर खुद शैतान के बहकाने में आकर मन्दिर में घुसता, और देवता की तौहीन करता, और तुम मुझे पहचानकर भी क़त्ल कर देते, तो मैं अपना खून माफ़ कर देता। किसी के

दीन की तौहीन करने से बड़ा और कोई गुनाह नहीं है। गो इस वक़्त मेरा कलेजा फटा जाता है, और यह सदमा मेरी जान ही लेकर छोड़ेगा, पर खुदा गवाह है कि मुझे तुमसे ज़रा भी मलाल नहीं है। तुम्हारी जगह मैं होता, तो मैं भी यही करता, चाहे मेरे मालिक का बेटा ही क्यों न होता। घरवाले मुझे तानों से छेदेंगे, लड़की रो-रोकर मुझसे खून का बदला माँगेगी, सारे मुसलमान मेरे खून के प्यासे हो जायँगे, मैं काफ़िर और बेदीन कहा जाऊँगा, शायद कोई दीन का पक्का नौजवान मुझे क़त्ल करने पर भी तैयार हो जाय, लेकिन मैं हक़ से मुँह न मोड़ूँगा। अँधेरी रात है, इसी दम यहाँ से भाग जाओ, और मेरे इलाक़े में किसी छावनी में छिप जाओ। वह देखो, कई मुसलमान चले आ रहे हैं—मेरे घरवाले भी हैं—भागो, भागो !!

(४)

साल-भर भजनसिंह चौधरी साहब के इलाक़े में छिपा रहा। एक ओर मुसलमान लोग उसकी टोह में लगे रहते थे, दूसरी ओर पुलीस। लेकिन चौधरी उसे हमेशा छिपाते रहते थे। अपने समाज के ताने सहे, अपने घरवालों का तिरस्कार सहा, पुलीस के वार सहे, मुल्लाओं की

धमकियाँ सहीं, पर भजनसिंह की ख़बर किसी को कानो-कान न होने दी। ऐसे वफ़ादार, स्वामिभक्त सेवक को वह जीते-जी निर्दय कानून के पंजे में न देना चाहते थे। उनके इलाक़े की छावनियों में कई बार तलाशियाँ हुईं, मुल्लाओं ने घर के नौकरों, मामाओं, लौंडियों को मिलाया। लेकिन चौधरी ने ठाकुर को अपने एहसानों की भाँति छिपाये रक्खा।

लेकिन ठाकुर को अपने प्राणों की रक्षा के लिए चौधरी साहब को संकट में पड़े देख कर असह्य वेदना होती थी। उसके जी में बार-बार आता था, चल कर मालिक से कह दूँ—मुझे पुलीस के हवाले कर दीजिए। लेकिन चौधरी साहब बार-बार उसे छिपे रहने की ताक़ीद करते रहते थे।

जाड़ों के दिन थे। चौधरी साहब अपने इलाक़े का दौरा कर रहे थे। अब वह मकान पर बहुत कम रहते थे। घरवालों के शब्द-बाणों से बचने का यही उपाय था। रात को खाना खाकर लेटे ही थे कि भजनसिंह आकर सामने खड़ा हो गया। उसकी सूरत इतनी बदल गई थी कि चौधरी साहब देख कर चौंक पड़े। ठाकुर ने कहा—सरकार अच्छी तरह हैं?

चौधरी—हाँ, ख़ुदा का फ़ज़्ल है। तुम तो बिलकुल पहचाने ही नहीं जाते। इस वक्त कहाँ से आ रहे हो?

ठाकुर—मालिक, अब तो छिप कर नहीं रहा जाता। हुक्म हो, तो जाकर अदालत में हाज़िर हो जाऊँ। जो भाग्य में लिखा होगा, वह होगा। मेरे कारण आपको इतनी हैरानी हो रही है, यह मुझ से नहीं देखा जाता।

चौधरी—नहीं ठाकुर, मेरे जीते-जी नहीं। तुम्हें जान-बूझ कर भाड़ के मुँह में नहीं डाल सकता। पुलीस अपनी मर्ज़ी के माफ़िक शहादतें बना लेगी, और मुफ्त में तुम्हें जान से हाथ धोना पड़ेगा। तुमने मेरे लिए बड़े-बड़े ख़तरे सहे हैं। अगर मैं तुम्हारे लिए इतना भी न कर सकूँ, तो मुझसे बढ़कर अहसानफ़रामोश और कौन होगा? इस बारे में अब फिर मुझ से कुछ मत कहना।

ठाकुर—कहीं किसी ने सरकार—

चौधरी—इसका बिलकुल ग़म न करो। जब तक खुदा को मंजूर न होगा, कोई मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। तुम अब जाओ, यहाँ ठहरना ख़तरनाक है।

ठाकुर—सुनता हूँ, लोगों ने आपसे मिलना-जुलना छोड़ दिया है।

चौधरी—दुश्मनों का दूर रहना ही अच्छा।

लेकिन ठाकुर के दिल में जो बात जम गई थी, वह न निकली। इस मुलाकात ने उसका इरादा और भी पक्का कर दिया। इन्हें मेरे कारण यों मारे-मारे फिरना पड़ रहा है। यहाँ इनका कौन अपना बैठा हुआ है ? जो चाहे आकर हमला कर सकता है। मेरी इस ज़िन्दगानी को धिक्कार !

प्रातःकाल ठाकुर ज़िला-हाकिम के बंगले पर पहुँचा। साहब ने पूछा—क्या तुम अब तक चौधरी के कहने से छिपा था ?

ठाकुर—नहीं हज़ूर, अपनी जान के खौफ़ से।

(५)

चौधरी साहब ने यह ख़बर सुनी, तो सन्नाटे में आगए। अब क्या हो ? अगर मुकदमे की पैरवी न की गई, तो ठाकुर का बचना मुश्किल है। पैरवी करते हैं, तो इस-लामी दुनिया में तहलक़ा पड़ा जाता है। चारों तरफ़ से फतवे निकलने लगेंगे। उधर मुसलमानों ने ठान ली कि इसे फाँसी दिला कर ही छोड़ेंगे। आपस में चंदा किया गया। मुल्लाओं ने मसजिद में चन्दे की अपील की; द्वार-द्वार झोली बाँधकर घूमे। इस पर कौमी मुकदमे का रंग चढ़ाया गया। मुसलमान वकीलों को नाम लूटने का

मौक़ा मिल गया। आसपास के ज़िलों से जिहाद में शरीक होने के लिए आने लगे।

चौधरी साहब ने भी पैरवी करने का निश्चय किया, चाहे कितनी ही आफ़तें क्यों न सिर पर आपड़ें। ठाकुर उन्हें इंसाफ़ की निगाह में बेकसूर मालूम होता था, और बेक़सूर की रक्षा करने में उन्हें किसी का ख़ौफ़ न था। घर से निकल खड़े हुए, और शहर में जाकर डेरा जमा दिया।

छः महीने तक चौधरी साहब ने जान लड़ाकर मुकदमे की पैरवी की। पानी की तरह रुपये बहाए, आँधी की तरह दौड़े। वह सब किया, जो ज़िन्दगी में कभी न किया था, और न कभी पीछे किया। अहलकारों की खुशामदें कीं, वकीलों के नाज़ उठाए, हाकिमों को नज़रें दीं, और ठाकुर को छुड़ा लिया। सारे इलाक़े में धूम मच गई। जिसने सुना, दंग रह गया। इसे कहते हैं शराफ़त! अपने नौकर को फाँसी से उतार लिया।

लेकिन साम्प्रदायिक द्वेष ने इस सत्कार्य को और ही आँखों से देखा—मुसलमान झल्लाये, हिन्दुओं ने बग़लें बजाईं। मुसलमान समझे, इनकी रही-सही मुसलमानियत भी ग़ायब हो गई। हिन्दुओं ने खयाल किया, अब इनकी

शुद्धि कर लेनी चाहिए, इसका मौक़ा आ गया। मुल्लाओं ने और ज़ोर-शोर से तबलीग़ की हाँक लगानी शुरू की, हिन्दुओं ने भी संगठन का झंडा उठाया। मुसलमानों की मुसलमानी जाग उठी, और हिन्दुओं का हिन्दुत्व। ठाकुर के कदम भी इस रेले में उखड़ गये। मनचले थे ही, हिन्दुओं के मुखिया बन बैठे। ज़िन्दगी में कभी एक लोटा जल तक शिव को न चढ़ाया था, अब देवी-देवतों के नाम पर लठ चलाने के लिए उद्यत हो गये। शुद्धि करने को कोई मुसलमान न मिला, तो दो-एक चमारों ही की शुद्धि करा डाली। चौधरी साहब के दूसरे नौकरों पर भी असर पड़ा; जो मुसलमान कभी मसजिद के सामने खड़े न होते थे, वे पाँचों वक्त की नमाज़ अदा करने लगे; जो हिन्दू कभी मन्दिरों में झाँकते भी न थे, वे दोनों वक़्त संध्या करने लगे।

बस्ती में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। उस पर ठाकुर भजनसिंह बने उनके मुखिया, जिनकी लाठी का लोहा सब मानते थे। पहले मुसलमान, संख्या में कम होने पर भी, उन पर ग़ालिब रहते थे; क्योंकि वे संगठित न थे, लेकिन अब वे संगठित हो गए थे। भला मुट्ठी-भर मुसलमान उनके सामने क्या ठहरते।

एक साल और गुज़र गया। फिर जन्माष्टमी का उत्सव आया। हिंदुओं को अभी तक अपनी हार भूली न थी। गुप्त रूप से बराबर तैयारियाँ होती रहती थीं। आज प्रातःकाल ही से भक्त लोग मंदिर में जमा होने लगे। सब के हाथों में लाठियाँ थीं, कितने ही आदमियों ने कमर में छुरे छिपा लिए थे। छेड़कर लड़ने की राय पक्की हो गई थी। पहले कभी इस उत्सव में जुलूस न निकला था। आज धूमधाम से जुलूस निकालने की ठहरी।

दीपक जल चुके थे। मसजिदों में शाम की नमाज़ होने लगी थी। जुलूस निकला। हाथी, घोड़े, झंडे-झंडियाँ बाजे-गाजे, सब साथ थे। आगे-आगे भजनसिंह अपने अखाड़े के पट्ठों को लिए अकड़ते चले जाते थे।

जुमामसजिद सामने दिखाई दी। पट्ठों ने लाठियाँ सँभालीं, सब लोग सतर्क हो गए। जो लोग इधर-उधर बिखरे हुए थे, आकर सिमट गए। आपस में कुछ काना-फूसी हुई। बाजे और ज़ोर से बजने लगे। जयजयकार की ध्वनि और ज़ोर से उठने लगी। जुलूस मसजिद के सामने आ पहुँचा।

सहसा एक मुसलमान ने मसजिद से निकलकर कहा—नमाज़ का वक़्त है, बाजे बंद कर दो।

भजनसिंह—बाजे न बंद होंगे।

मुसलमान—बंद करने पड़ेंगे।

भजनसिंह—तुम अपनी नमाज़ क्यों नहीं बंद कर देते?

मुसलमान—चौधरी साहब के बल पर मत फूलना। अबकी होश ठंडे हो जायँगे।

भजनसिंह—चौधरी साहब के बल पर तुम फूलो, यहाँ अपने ही बल का भरोसा है। यह धर्म का मामला है।

इतने में कुछ और मुसलमान निकल आए, और बाजे बंद करने का आग्रह करने लगे, इधर और ज़ोर से बाजे बजने लगे। बात बढ़ गई। एक मौलवी ने भजनसिंह को काफ़िर कह दिया। ठाकुर ने उसकी दाढ़ी पकड़ ली। फिर क्या था! सूरमा लोग निकल पड़े, मार-पीट शुरू हो गई। ठाकुर हल्ला मारकर मसजिद में घुस गए, और मसजिद के अंदर मार-पीट होने लगी। यह नहीं कहा जा सकता कि मैदान किसके हाथ रहा। हिंदू कहते थे, हमने खदेड़-खदेड़कर मारा; मुसलमान कहते थे, हमने वह मार मारी कि फिर सामने न आएँगे। पर इन विवादों के बीच में एक बात सब मानते थे, और यह थी ठाकुर भजनसिंह की अलौकिक वीरता। मुसलमानों का कहना था कि

ठाकुर न होता, तो हम किसी को ज़िंदा न छोड़ते; हिन्दू कहते थे कि ठाकुर सचमुच महावीर का अवतार है। इसकी लाठियों ने उन सबों के छक्के छुड़ा दिये।

(६)

उत्सव समाप्त हो चुका था। चौधरी साहब दीवानख़ाने में बैठे हुक़्क़ा पी रहे थे। उनका मुख लाल था, त्यौरियाँ चढ़ी हुई थीं, और आँखों से चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं। 'खुदा का घर' नापाक किया गया! यह ख़याल रह-रहकर उनके कलेजे को मसोसता था।

खुदा का घर नापाक किया गया! ज़ालिमों को लड़ने के लिये क्या नीचे मैदान में जगह काफ़ी न थी? खुदा के पाक घर में यह खून-खच्चर! मसजिद की यह बेहुरमती! मंदिर भी खुदा का घर है, और मसजिद भी। मुसलमान किसी मंदिर को नापाक करने के लिये जिस सज़ा के लायक़ हैं, क्या हिंदू मसजिद को नापाक करने के लिये उसी सज़ा के लायक़ नहीं?

और यह हरकत ठाकुर ने की! इसी क़सूर के लिये तो उसने मेरे दामाद को क़त्ल किया था। मुझे मालूम होता कि उसके हाथों ऐसा फ़ेल होगा, तो उसे फाँसी पर चढ़ने देता। क्यों उसके लिये इतना हैरान, इतना बदनाम,

इतना ज़ेरबार होता। ठाकुर मेरा वफ़ादार नौकर है। उसने बारहा मेरी जान बचाई है। मेरे पसीने की जगह ख़ून बहाने को तैयार रहता है। लेकिन आज उसने ख़ुदा के घर को नापाक किया है, और उसे इसकी सज़ा मिलनी चाहिये। इसकी सज़ा क्या है? जहन्नुम! जहन्नुम की आग के सिवा इसकी और कोई सज़ा नहीं है। जिसने ख़ुदा के घर को नापाक किया, उसने ख़ुदा की तौहीन की। ख़ुदा की तौहीन!

सहसा ठाकुर भजनसिंह आकर खड़े हो गए।

चौधरी साहब ने ठाकुर को क्रोधोन्मत्त आँखों से देखकर कहा—तुम मसजिद में घुसे थे?

भजनसिंह—सरकार, मौलवी लोग हम लोगों पर टूट पड़े।

चौधरी—मेरी बात का जवाब दो जी—तुम मसजिद में घुसे थे?

भजनसिंह—जब उन लोगों ने मसजिद के भीतर से हमारे ऊपर पत्थर फेंकना शुरू किया, तब हम लोग उन्हें पकड़ने के लिए मसजिद में घुस गए।

चौधरी—जानते हो, मसजिद ख़ुदा का घर है?

भजनसिंह—जानता हूँ हजूर, क्या इतना भी नहीं जानता ?

चौधरी—मसजिद खुदा का वैसा ही पाक घर है, जैसे मन्दिर।

भजनसिंह ने इसका कुछ जवाब न दिया।

चौधरी—अगर कोई मुसलमान मन्दिर को नापाक करने के लिए क़सूरवार है, तो हिन्दू भी मसजिद को नापाक करने के लिए उतने ही क़सूरवार हैं।

भजनसिंह इसका भी कुछ जवाब न दे सका। चौधरी साहब को उसने कभी इतने गुस्से में न देखा था।

चौधरी—तुमने मेरे दामाद को क़त्ल किया, और मैंने तुम्हारी पैरवी की। जानते हो, क्यों ? इसलिए कि मैं अपने दामाद को इस सज़ा के लायक़ समझता था, जो तुमने उसे दी। अगर तुमने मेरे बेटे को, या मुझी को, उस क़सूर के लिए मार डाला होता, तो भी मैं तुमसे खून का बदला न माँगता। वही क़सूर आज तुमने किया है। अगर किसी मुसलमान ने मसजिद में तुम्हें जहन्नुम में पहुँचा दिया होता, तो मुझे सच्ची खुशी होती। लेकिन तुम बेहयाओं की तरह वहाँ से बचकर निकल आए। क्या तुम समझते हो, खुदा तुम्हें इस फ़ेल की सज़ा न

देगा ? खुदा का हुक्म है कि जो उसकी तौहीन करे, उसकी गरदन मार देनी चाहिए। यह हरएक मुसलमान का फ़र्ज़ है। चोर अगर सज़ा न पाए, तो क्या वह चोर नहीं है ? तुम मानते हो या नहीं कि तुमने खुदा की तौहीन की ?

ठाकुर इस अपराध से इन्कार न कर सके। चौधरी साहब के सत्संग ने हठधर्मी को दूर कर दिया था। बोले–हाँ साहब, यह क़सूर तो हो गया।

चौधरी—इसकी जो सज़ा तुम दे चुके हो, वह सज़ा खुद लेने के लिए तैयार हो ?

ठाकुर—मैंने जान-बूझकर तो दूल्हा मियाँ को नहीं मारा था।

चौधरी—तुमने न मारा होता, तो मैं अपने हाथों से मारता। समझ गए। अब मैं तुम से खुदा की तौहीन का बदला लूँगा। बोलो, मेरे हाथों चाहते हो, या अदालत के हाथों। अदालत से कुछ दिनों के लिए सज़ा पा जाओगे। मैं क़त्ल करूँगा। तुम मेरे दोस्त हो, मुझे तुम से मुतलक़ कीना नहीं है। मेरे दिल को कितना रंज है, यह खुदा के सिवा और कोई नहीं जान सकता। लेकिन मैं तुम्हें क़त्ल करूँगा। मेरे दीन का यह हुक्म है।

यह कहते हुए चौधरी साहब तलवार लेकर ठाकुर के सामने खड़े होगये। विचित्र दृश्य था। एक बूढ़ा आदमी सिर के बाल पके, कमर झुकी, तलवार लिए एक देव के सामने खड़ा था। ठाकुर लाठी के एक ही वार से उनका काम तमाम कर सकता था। लेकिन उसने सिर झुका दिया। चौधरी के प्रति उसके रोम-रोम में श्रद्धा थी। चौधरी साहब अपने दीन के इतने पक्के हैं, इसकी उसने कभी कल्पना तक न की थी। उसे शायद धोखा हो गया था कि यह दिल से हिन्दू हैं। जिस स्वामी ने उसे फाँसी से उतार लिया, उसके प्रति हिंसा या प्रतिकार का भाव उसके मन में क्योंकर आता? वह दिलेर था, और दिलेरों की भाँति निष्कपट था। उसे इस समय क्रोध न था, पश्चात्ताप था। मरने का भय न था, दुःख था।

चौधरी साहब ठाकुर के सामने खड़े थे। दीन कहता था—मारो, सज्जनता कहती थी—छोड़ो। दीन और धर्म में संघर्ष हो रहा था।

ठाकुर ने चौधरी का असमंजस देखा। गद्गद कंठ से बोला—मालिक, आपकी दया मुझ पर हाथ न उठाने देगी। अपने पाले हुए सेवक को आप मार नहीं सकते। लेकिन यह सिर आपका है, आपने इसे बचाया था, आप इसे

ले सकते हैं, यह मेरे पास आपकी अमानत थी। वह अमानत आपको मिल जायगी। सबेरे मेरे घर किसी को भेज कर मँगवा लीजिएगा। यहाँ दूँगा, तो उपद्रव खड़ा हो जायगा। घर पर कौन जानेगा, किसने मारा। जो भूल चूक हुई हो, क्षमा कीजिएगा।

यह कहता हुआ ठाकुर वहाँ से चला गया।

दूसरे दिन लोगों ने देखा कि ठाकुर का सिर चौधरी साहब के सामने रखा है और चौधरी ने अपनी आँखों से उसे भिगो दिया है।

———

श्री सुदर्शन

इनका जन्म सन् १८९६ ई० में स्यालकोट में हुआ। इनके पिता का नाम था पंडित गुराँदित्तामल। ये गवर्नमेण्ट प्रेस में काम करते थे। १९१३ में इन्होंने कालेज छोड़कर लाहौर के 'हिन्दुस्तान' नामक उर्दू-पत्र में काम करना शुरू कर दिया। १९२० से ये हिन्दी लिखने लगे हैं। उर्दू-क्षेत्र में इनकी अच्छी ख्याति है। इन्होंने अबतक लगभग १२ पुस्तकें लिखी हैं। इन्हें शायद दो बार पंजाब-गवर्नमेण्ट से कहानियों की पुस्तकों पर पुरस्कार भी मिल चुका है।

सुदर्शन जी अब बहुत कम दीख पड़ते है। ये सावधान होकर एक कहानी को पूर्ण करने के लिये कहानी लिखते है। पंजाबी किंवदन्तियों के आधार पर उन्होंने कुछ कहानियाँ लिखी हैं। वे कभी किसी कहानी में शायद ही डूबे हों, मानों दूर से देख २ कर चरित्रों की रूप रेखा बनाते हैं। उनके पात्र चित्रित चरित्रों की प्रतिमूर्ति नहीं—छायामूर्ति अथवा लिपिमूर्ति होते हैं। उनके पात्र पूरे पूरे सांसारिक होते हैं। सुदर्शन जी शायद कभी भावावेश में पागल नहीं हुए। आपकी भाषा बोल-चाल की होती है और उसमें पंजाबीपन कुछ २ होता है। कहानियों में वर्णन बहुत लम्बे होते हैं। इससे पाठक ऊबने लगते हैं। आपकी पिछली कहानियों में भी प्रेमचन्द जी की भाँति आज़ादकथा की लटक रहती है। आप उर्दू मे भी लिखते हैं।

कीर्ति का मार्ग

(१)

धन और कीर्ति में चोली-दामन का सम्बन्ध है। लाहौर के दीवान अमृतलाल की कीर्ति का मूल-कारण उनकी दौलत थी। उनमें और कोई सद्‌गुण न था। अँगरेज़ी जानना तो दूर रहा, उर्दू-हिन्दी भी अच्छी तरह न पढ़ सकते थे। पढ़ते तो ऐसा मालूम होता, जैसे कोई छकड़ा दलदल में फँसकर बाहर निकलने की चेष्टा कर रहा हो। ज़रा कोई कठिन शब्द आया, और महात्माजी पर फ़ालिज गिरा। कई मिनट रुके रहते, मगर पहिया दलदल से बाहर न निकलता। बात-चीत करने का यह हाल था कि बोलते तो ऐसा मालूम होता, जैसे सरकार लड़ने-मरने को तैयार हैं। शौक़ीन इतने थे कि बाज़ार से दो-दो आने की तसवीरें मोल ले आते, और फिर उन्हें आटे से दीवारों पर चिपका-चिपका कर झूमते कि दीवारों की

शोभा का कैसी सफ़ाई से गला घोंट दिया है। सुजनता ऐसी थी कि कोई मिलने आता तो सीधे मुँह बात भी न करते थे। और नौकरों-चाकरों की तो अपने श्रीहाथों से मरम्मत करने में भी सङ्कोच न था। कोई काम न करते थे। न इसकी कोई आवश्यकता थी। उनके पिता ने अपने बाहु-बल से लाखों रुपये पैदा किये थे। चार हज़ार मासिक के लगभग केवल ब्याज और किराये में आजाते थे। बैठे चैन की बाँसुरी बजाते थे। पिता ने कमाया था, पुत्र खाता था। परन्तु उनका नाम दूर दूर तक मशहूर था। समाचार-पत्र लिखते—दीवान साहब ऐसे हँसमुख, मिलनसार और सभ्य आदमी हैं कि मिलकर हृदय-कमल खिल उठता है। यों देखने में बड़े सीधे-सादे नज़र आते हैं, मगर बड़े-बड़े पण्डितों का और सुयोग्य लोगों का मुँह बन्द कर देते हैं। इतना ही नहीं, उनकी दान-वीरता की कल्पित कहानियाँ इस सज-धज से प्रकाशित करते कि दीवान साहब उनकी कल्पना-शक्ति के क़ायल हो जाते, और देर तक हँसते रहते। यह यशो-गान—यह कीर्ति-वृत्तान्त अकारण न था। दीवान साहब हर सभा-सोसाइटी को आर्थिक सहायता दिया करते थे। और उनका दान साधारण दान न होता था। जब देते, दिल खोलकर देते थे। पैसे-पैसे को

दाँतों से पकड़नेवाले सूम में चन्दा देते समय इतनी उदारता कहाँ से आजाती थी; इसे कोई मानव-चरित्र का पण्डित भी न समझ सकता था। इष्ट-मित्रों में बैठते तो कहते—देखो, मैंने सारी आयु में एक ही बात सीखी है, और वह दान है। यह सौ गुणों का एक गुण है। तुम जो जी चाहे करो, जो खेल पसन्द हो खेलो, पर दान दे दो। समाज चुप रहेगा। दान इस नाग का वशीकरण मन्त्र है। दान इस समाज की जीभ पकड़ने का एकमात्र साधन है।

(२)

दोपहर का समय था। दीवान साहब अपनी कोठी के हाते में आराम-कुरसी पर बैठे ऊँघ रहे थे। इतने में एक नवयुवक उनके सामने आकर खड़ा हो गया। दीवान साहब ने उसको देखा, तो चौंक पड़े। इसके बाद उन्होंने पीठ कुरसी के साथ लगा ली और पाँव सामने धरे हुए स्टूल पर फैला कर बोले—अरे कौन ? क्या तू पन्नालाल तो नहीं ?

नवयुवक ने श्रद्धा-भाव से दीवान साहब के चरण छूकर कहा—जी हाँ, आपने खूब पहचाना।

"ऐमनाबाद से कब आये ?"

"अभी गाड़ी से उतरा हूँ। सीधा इधर ही आ रहा हूँ।"

"अभी खाना तो न खाया होगा।"

"जी नहीं।"

"मैं तो कभी का खा चुका। जाओ, अन्दर जाकर नौकर से कहो, तुम्हारे लिए तैयार कर दे। दाल रक्खी है, आलू की भाजी बनवा लो।"

पन्नालाल के दिल में बड़ी-बड़ी उमँगें थीं, सब पर पानी फिर गया। सोचता था, दीवान साहब अमीर आदमी हैं। मैं उनका सम्बन्धी हूँ। पहली बार उनके घर चला हूँ, सिर आँखों पर बिठायँगे। मगर उनकी ख़ातिर तवाज़ो का पहला ही भाग कितना निराशा-जनक था! कैसा अपमान-सूचक! पन्नालाल का जी खट्टा हो गया। सोचने लगा, जिस ग्रन्थ का प्रथम परिच्छेद ऐसा निस्सार है, उसका शेष भाग कितना शोकमय होगा। ख़याल आया, यहीं से लौट चलूँ, कैसा असभ्य है? पाँव फैलाये बैठा है, और बातें करता है। इतना भी न हुआ कि उठ कर कुरसी ही पेश करे। चार पैसे क्या हाथ आये, अदब-आदाब से भी पाक हो गये! पन्नालाल की आँखें ज़मीन की तरफ़ लगी थीं, परन्तु दीवान साहब को इसकी ज़रा

भी परवा न थी। थोड़ी देर बाद बोले—घर में तो सब तरह से कुशल है न ?

"जी हाँ! सब खुश हैं।"

"भाभी का क्या हाल है ?"

"वे भी राज़ी हैं।"

"मिले हुए कई साल बीत गए। कभी आती ही नहीं। ख़ैर, उनकी इच्छा। कभी मिलूँगा, तब पूछूँगा। तुमने इन्ट्रेन्स की परीक्षा कब पास की ?"

"पिछले साल।"

दीवान साहब ने आश्चर्य प्रकट किया और पूछा—कहीं नौकर हो क्या ? सारी तनख्वाह ख़र्च तो नहीं कर देते। कुछ न कुछ बचा कर रक्खा करो। नहीं आख़िरी उमर में कष्ट होगा।

पन्नालाल ने ठंडी साँस भर कर उत्तर दिया—अभी तो कहीं नौकर नहीं हुआ। जब से इम्तिहान पास किया तब से धक्के खा रहा हूँ।

"अरे! यह क्या ? तुमने मुझे क्यों न लिखा। लिखते तो कब के नौकर हो चुके होते। तुम लाख परे भागो, पर नाखूनों से माँस कब जुदा हुआ है! आख़िर मेरे तो भाई के बेटे ही हो। तुम्हारा जैसा ख़याल मुझे है,

वैसा किसी दूसरे को न होगा। कोई न समझे तो और बात है, पर समझने वाले बेटे और भतीजे को बराबर समझते हैं।"

पन्नालाल को बहुत आश्चर्य हुआ, जैसे पत्थरों से जल की धारा बहते देख ली हो। सहसा विचार आया, लोकाचार नहीं तो क्या हुआ, परन्तु आदमी खरा है। और दिल तो सहानुभूति का सोता है। मैंने इन्हें समझने में भूल की।

पन्नालाल ने लज्जा से सिर झुकाकर कहा—क्या कहूँ? अपनी मूर्खता पर पछता रहा हूँ। अब तो आपका ही भरोसा है। ख़्वाह मारें, ख़्वाह जिला दें। मुझे कोई दूसरा अपना नहीं दिखाई देता।

यह कहते कहते पन्नालाल अन्दर चला गया। दीवान साहब फिर ऊँघने लगे। पर वे सोते न थे, जागते थे। दिल में सोच रहे थे, पन्नालाल अकारण नहीं आया है। कुछ माँगने आया होगा। मैंने इसी भय से कभी चिट्ठी नहीं लिखी। कभी मिलने नहीं गया। हमें अपने ग़रीब सम्बन्धियों से परे रहना चाहिए। कुछ न कुछ माँग बैठते हैं। उस समय बड़ा संकोच होता है। दें तो मुश्किल, न दें तो मुश्किल। मगर इतनी सावधानी करने

पर भी दनदनाते हुए आ जाते हैं। इन्हें कुछ भी लज्जा नहीं लगती। समझते हैं, अमीर आदमी हैं, कुछ न कुछ दे ही देंगे।

रात को स्त्री से बोले—कुछ मालूम हुआ, पन्नालाल कैसे आया है?

स्त्री—तुम्हारा दर्शन करने आया होगा!

दीवान साहब—ज़रूर कुछ माँगने आया है।

स्त्री—चरणामृत दे देना!

दीवान साहब—बड़ी दिक़्कत में फँसा हूँ।

स्त्री—तुम्हारा प्यारा भतीजा है, देखकर तबीयत हरी हो गई होगी!

दीवान साहब—तुम तो ताने मारती हो।

स्त्री—अब और क्या करूँ। बैठे बैठे चिन्ता ने आ पकड़ा।

दीवान साहब—कुछ माँगेगा तो क्या कहूँगा। हमें जवाब देते लज्जा लगती है। इन्हें माँगते संकोच नहीं होता।

स्त्री—लाज-शर्म तो इन लोगों ने घोल कर पी ली है। मैं इसे एक पैसा न देने दूँगी। अमीर हैं तो अपने घर, ग़रीब हैं तो अपने घर।

दीवान साहब—और मैं बड़ी थैलियाँ लेकर बैठा हूँ कि आयँ तो ले जायँ ! टाल दूँगा ।

स्त्री—मीठी मीठी बातें कर देना । इसमें अपना क्या बिगड़ता है ।

दीवान साहब—देखो तो सही, कैसे टालता हूँ !

(३)

पंद्रह दिन बीत गये । पन्नालाल घर चलने को तैयार हुआ । इस समय उसकी आँखों में पानी था, हृदय में आग । रह-रह कर सोचता था, अब क्या होगा ? उसे दीवान साहब से बहुत कुछ आशा थी । वह समझता था, अमीर आदमी हैं, दिन-रात दान करते रहते हैं । मैं उनका भतीजा हूँ । क्या मेरी सहायता न करेंगे ? जो ग़ैरों को देता है वह अपने को क्यों न देगा ? मानव-चरित्र का यह एक ऐसा रोमाञ्चकारी दृश्य था, जो उसने इससे पहले कभी न देखा था । दीवान साहब ने उसे साफ़ जवाब दे दिया । उसने रो-रोकर कहा—हम मर रहे हैं । कई-कई दिन उपवास करना पड़ता है । आप पर परमात्मा की कृपा है । ज़रा-सी भी कृपा-दृष्टि हो जाय, तो हमारी नैया पार लग जाय । ये बातें न थीं, खून के आँसू थे । मगर दीवान साहब चिकने घड़े थे, उन पर ज़रा असर न हुआ । ठण्डी

साँस भर कर बोले—बरखुरदार ! तुम्हारी सहायता करना मेरा कर्तव्य है। पर क्या करूँ ? इस साल बहुत से मकान ख़ाली पड़े रहे। हाथ बड़ा तङ्ग है। अब तुमसे क्या कहूँ ? लोग समझते हैं, यहाँ हज़ारों आते हैं, पर किसी को क्या पता ? यह सब भरम है।

पन्नालाल का कलेजा धड़कने लगा। वह गङ्गा जी से प्यासा वापस जा रहा था। उसकी आँखों तले अँधेरा छा गया। बहुत नम्रता से बोला—यदि आप थोड़ी सी ही सहायता कर दें तो बड़ी बात है। हम आज-कल पैसे-पैसे को मोहताज हो रहे हैं।

दीवान साहब ने उत्तर दिया—यह मेरे लिए कठिन है। हाँ, तुम्हारी नौकरी का प्रबन्ध शीघ्र ही कर दूँगा।

"आज-कल नौकरी का बड़ा बुरा हाल है। एक जगह ख़ाली होती है, सौ उम्मीदवार पहुँच जाते हैं।"

"यही तो ख़राबी है।"

"आप करेंगे तो हो जायगा।"

"अरे, तो क्या अब तुम्हारे लिए भी न करूँगा ?"

पन्नालाल ने भूमि की तरफ़ देखते हुए उत्तर दिया—आपको बहुत काम रहते हैं, भूल न जाइएगा। नहीं तो हम भूखों मर जायँगे।

"मरना जीना तो अपने भाग्य की बात है। पर मैं तुम्हें भूलूँगा नहीं। तो क्या अब चले ही जाओगे ?"

"जी हाँ ! यही ख़याल है। कई दिन गुज़र गये। घर के लोग घबरा रहे होंगे।"

"कुछ दिन और न रह जाओ।"

"अब तो आज्ञा ही दीजिए। फिर कभी सेवा में उपस्थित हूँगा।"

"मेरा जी तो न चाहता था कि तुम इतनी जल्दी जाओ, पर ख़ैर। अपनी चाची से मिल आये ?"

"जी हाँ, आज्ञा ले आया।"

दीवान साहब कुर्सी के बल टाँगें फैलाये झुके हुए थे। उठकर बैठ गये और बटुआ खोल कर सोचने लगे, इसे क्या दें। इतना गूढ़ विचार किसी फ़ाइनेंस-मेम्बर ने अपने प्रान्त का बजट तैयार करते समय भी न किया होगा। आख़िर जान पर खेल कर उन्होंने दो रुपये निकाले, और पन्नालाल के हाथ में रखकर बोले—भाभी को प्रणाम कहना।

पन्नालाल चौंक पड़ा। उसने दीवान साहब की ओर अचरज-भरी दृष्टि से देखा। मानो कह रहा था, इसे धन इतना प्यारा क्यों है ? तब वह धीरे-धीरे बाहर

निकल आया। वहाँ एक छोटी सी मेज़ पड़ी थी। पन्नालाल ने वे दोनों रुपये उसी मेज़ पर रख दिये, और आप स्टेशन को चला गया।

दीवान साहब ने बाहर आकर रुपये देखे, और उनके तन-बदन में आग लग गई। सोचने लगे, यह छोकरा मेरा अपमान करता है। रस्सी जल गई, पर ऐंठन नहीं गई। समझता होगा, उठाकर थैलियाँ दे देगा। इतना ख़याल नहीं कि इसके भी लड़के-बाले हैं। हमें क्या दे? घर में भाँग पकती है, अहंकार से पाँव भूमि पर नहीं पड़ता। मैं भी कैसा सीधा-सादा आदमी हूँ, जो उसकी मीठी मीठी बातों में आ गया। बहुत अच्छा हुआ, कुत्ते की जात पहचानी गई। देखता हूँ, अब कौन इसे डिप्टी की नौकरी दिलाये देता है।

(४)

इतने में दरवाज़े पर हार्न बजा, और एक मोटर अन्दर आया। इसमें लाहौर के सुप्रसिद्ध रईस रायबहादुर लखपतराय सवार थे। उनको देखकर दीवान साहब खड़े हो गये, और मोटर के समीप आकर बोले—'आज शायद आप रास्ता भूल गए हैं?' धन धनवानों से भी सत्कार करा लेता है।

रायबहादुर ने मोटर से उतर कर दीवान साहब से हाथ मिलाया और कहा—क्या कहूँ दीवान साहब! दुनिया के धन्धे नहीं छोड़ते, नहीं तो आपके यहाँ रोज़ आता, रोज़!

"छः महीने के बाद आये हैं आप!"

"शायद, मैं ऐसी बातों का ब्यौरा नहीं रखता।"

"मगर मैं तो बराबर रखता हूँ।"

रायबहादुर ने कहकहा लगा कर कहा—बहुत अच्छा करते हैं। इसी पर किसी दिन ख़िताब मिल जायगा।

यह कहकर रायबहादुर ने कनखियों से दीवान साहब की तरफ़ देखा। पर वे विषाद-मय थे। वह हँसी, वह प्रसन्नता, वह अचिन्ता, पता नहीं कहाँ छिप गई, जैसे सूरज पर बादल आ जाने से धूप छिप जाती है। रायबहादुर ने सिगरेट-केस से एक सिगरेट निकाल कर दीवान साहब को पेश किया। इसके बाद अपना सिगरेट सुलगाया, और कुरसी से पीठ लगा कर धूम्र-पान करने लगे।

परन्तु दीवान साहब को सिगरेट पीने की सुध न थी। उन्होंने अपनी कुरसी रायबहादुर के पास सरका ली और धीरे से कहा—तो क्यों जनाब, क्या हम ख़ाली ही रहेंगे?

रायबहादुर सिगरेट पीते रहे ।

"देखिए ! कितने साल गुज़र गये हैं । साधारण से साधारण आदमी भी रायसाहब और रायबहादुर बन गये हैं । हमें कोई पूछता ही नहीं ।"

रायबहादुर फिर भी सिगरेट पीते रहे ।

"मैंने हर सभा को, हर समाज को दिल खोलकर दान दिया है । इतनी भक्ति परमेश्वर की करता तो परमेश्वर मिल जाता । मगर सरकार-देवता अभी तक प्रसन्न नहीं हुए ।"

रायबहादुर हँसने लगे ।

"आप समाचार-पत्र तो देखते होंगे । हर साल हज़ारों का दान करता रहता हूँ । कोई पत्र उठा लीजिए, आपके सेवक की स्तुति से भरा होगा । परन्तु सरकार की कृपा-दृष्टि से अभी तक वञ्चित हूँ । अधिक न सही, क्या मैं इस योग्य भी न था कि रायसाहब या रायबहादुर ही बना दिया जाता । आपकी सरकार से इतनी बनती हो, और हम फिर भी मुँह देखते रह जायँ ! यह दुर्भाग्य नहीं, तो और क्या है ?"

यह कहते कहते दीवान साहब की आँखों में आँसू लहराने लगे । रायबहादुर का दिल पसीज गया । धीरे

से बोले—दीवान साहब, सरकार ख़िताब अपने आदमियों को देती है, लोगों के आदमियों को नहीं। निस्सन्देह आपने बहुत सा रुपया ख़र्च किया है, पर इससे सरकार को क्या। मुझे ज़रा बताइए, आपने सरकार के लिये क्या किया है? सरकार आपको क्यों ख़िताब दे?

दीवान साहब की आँखें खुल गईं, जैसे किसी ने सोते हुए यात्री को पानी के ठण्डे छींटे मारकर जगा दिया हो। उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो वे आज तक उलटे मार्ग पर चलते रहे हैं। किधर जाना था, किधर चलते रहे। परन्तु उनका प्रत्येक क़दम उन्हें उनकी मंज़िल से दूर लिये जाता रहा। भूला हुआ यात्री खूब दौड़ता है, खूब चलता है, खूब भागता है। समझता है, यात्रा-समाप्ति में अब विलम्ब नहीं। परन्तु एकाएक मालूम होता है, यह तो मार्ग ही दूसरा है, मैं तो किसी दूसरे नगर को जा रहा हूँ। उस समय उसे कितना दुःख होता है? उसका दिल घबरा जाता है। वह निराश हो जाता है। यही दशा दीवान साहब की थी। उन्हें किसी ने उलटे मार्ग पर डाल दिया था। समझते थे—समाचार-पत्रों की तारीफ़ मुझे ख़िताब दिला देगी। इस झूठी आशा में उन्होंने हज़ारों रुपये दान कर दिये थे।

इसमें सन्देह नहीं, वे लोगों की स्तुति के भी भूखे थे। पर सरकार के दिये हुए ख़िताब में कुछ और ही मज़ा है।

दूसरे सप्ताह दीवान साहब ने गवर्नर महोदय को अपनी कोठी में एक शानदार डिनर-पार्टी दी। समाचार-पत्रों में शोर मच गया। कोई और होता तो यही समाचार-पत्र पंजे झाड़ कर उसके पीछे पड़ जाते। परन्तु ये दीवान साहब थे, जो उनकी संस्थाओं को दान दिया करते थे। हम दानी आदमी के विरुद्ध नहीं बोल सकते। उसका दान हमारी जीभ पकड़ लेता है। लोग कहते थे—ऐसी पार्टी लाहौर में आज तक किसी ने नहीं दी। सजावट, प्रकाश, खाना सब उच्च कोटि के थे। महमान फड़क उठे। गवर्नर साहब बहुत खुश हुए। चलते समय उन्होंने दीवान साहब से कहा—आपने हमारा खाटर बहुट टकलीफ़ किया। ये शब्द न थे, देवता का वरदान था। दीवान साहब का सारा परिश्रम, सारा ख़र्च सफल होगया। जब हिसाब किया गया तो मालूम हुआ कि डिनर-पार्टी में तीन हज़ार रुपया उड़ गया है। परन्तु दीवान साहब को इसका ज़रा भी ख़याल न था। ख़याल यह था कि किसी तरह सरकार से ख़िताब मिल जाय।

उधर पन्नालाल ऐमनाबाद में बैठा अपने प्रारब्ध को

रोता था। उसने दीवान साहब को कई पत्र लिखे, जो पत्र न थे उसके दुर्भाग्य की कहानियाँ थीं, और उन कहानियों में दिल का दाह था। कोई ग़रीब आदमी भी उन्हें पढ़ कर बिलबिला उठता। पर दीवान साहब अचल रहे। वे ख़िताब की धुन में तन्मय हो रहे थे। आज किसी एक अफ़सर से मिलते, तो कल किसी दूसरे से। उनको अब और किसी वस्तु की सुध न थी, केवल ख़िताब का ख़याल था। वह उस सुदिन के लिए किसी प्रेमी की भाँति तड़फ रहे थे, जब उनका नाम सुनहरी सूची में प्रकाशित हो, और उनकी मित्र-मण्डली उनको बधाई देने आये। वह दिन कैसा भाग्यवान् होगा! कितना सुखकर! दीवान साहब ने सारा साल सरकारी चन्दों की भेंट कर दिया। यहाँ तक कि उनके हिसाब की किताब में २९ हज़ार रुपये की कमी हो गई।

(५)

सङ्कट में समय भी नहीं गुज़रता। पन्नालाल के लिए एक-एक दिन साल हो गया। अब उसे दीवान साहब का नाम सुन कर ज़हर चढ़ जाता था। घायल अँग पर हलका सा आघात भी बहुत दुखता है। हम उस पर बहुत जल्द झुँझला उठते हैं। पन्नालाल ने निश्चय कर

लिया कि मरता मर जाऊँगा, पर दीवान साहब का मुँह न देखूँगा। अब उसे किसी पराये से आशा थी, किसी अपने से न थी। उसने दीवान साहब की आशा छोड़ दी, और अपने तौर पर यत्न करने लगा। यदि कोई साधारण-सी भी नौकरी मिल जाय तो कर लूँ। मगर कई महीने बीत गये, और नौकरी न मिली। पन्नालाल घबरा गया। क्या करे, क्या न करे! दो क्वाँरी बहनें थीं, एक विधवा माँ। घर में जो चार पैसे जमा थे, वे भी उड़ गये। अब कौड़ी-कौड़ी को मोहताज थे। कौन देगा? इस स्वार्थी, झूठे संसार में उनकी कौन सहायता करेगा? दुःख की इस अन्धेरी रात में उनकी बाँह कौन थामेगा? पन्नालाल ने चारों ओर देखा, पर कोई सहायक, कोई सज्जन दिखाई न दिया।

एक दिन समाचार-पत्र देख रहा था। एकाएक उसमें एक विज्ञापन दिखाई दिया। पन्नालाल चौंक पड़ा। लाहौर के किसी रईस को एक लिखे-पढ़े चपरासी की आवश्यकता थी, वेतन बीस रुपये मासिक! पन्नालाल की आँखें चमकने लगीं। वह ख़ानदानी आदमी था। उसे आत्म-सम्मान और मान-मर्य्यादा का बहुत ख़याल था। परन्तु अब वह यह घृणा-युक्त नौकरी करने पर भी तैयार

था, जैसे आकाश में ऊँचा उड़नेवाला पक्षी भी पङ्ख कट जाने पर भूमि पर रेंगने लग जाय। वह भागा-भागा माँ के पास गया, और बोला—यह नौकरी मिल जाय तो कर लूँ।

माँ ने आँखों में आँसू भरकर उत्तर दिया—लोग क्या कहेंगे ? यह भी कोई नौकरी है ? ज़रा सोचो तो सही !

"बहुत सोचा। अच्छी न मिले तो बेकार कब तक बैठा रहूँ ?"

"कहीं मुँह दिखाने योग्य न रहोगे।"

"पर रोटी तो मिल जायगी।"

"ऐसी नौकरी हमारे वंश में आज तक किसी ने नहीं की।"

पन्नालाल ने बे-परवाही से कहा—अब उन बातों को भूल जाओ।

माँ ठण्डी साँस भर कर बोली—मुझे अमृतलाल से यह आशा न थी। आदमी काहे को है, राक्षस है। मरते समय यह धन छाती पर रखकर ले जायगा क्या ? हम भूखों मरते हैं, उसे ज़रा चिन्ता नहीं। लहू सफ़ेद हो गया !

"मेरे सामने उसका नाम न लो। कहो, यह नौकरी कर लूँ या ख़याल छोड़ दूँ ?"

"कर लो। जब परमात्मा ने दुःख दिया है तब अहङ्कार कैसा !"

पन्नालाल लाहौर पहुँचा। प्रारब्ध अच्छा था, जाते ही नौकरी मिल गई। पन्नालाल ने शान्ति की साँस ली। यह नौकरी न थी, उसके भाग्य के द्वार थे। आजतक माँगता था, अब अपने बाहु-बल से कमाने लगा।

जनवरी की पहली तारीख़ थी। दोपहर के समय रायबहादुर लखपतराय की कोठी में एक मोटर दाख़िल हुआ। पन्नालाल ने दौड़कर दरवाज़ा खोला, और नम्रता से एक तरफ़ खड़ा हो गया। सहसा उसकी दृष्टि मोटर में बैठे हुए आदमी पर पड़ी। उसके पैरों के नीचे से मिट्टी खिसकने लगी। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया—ये दीवान अमृतलाल थे। पन्नालाल को ऐसा मालूम हुआ, जैसे ज़मीन-आसमान सब हिल रहे हैं। उसका शरीर, उसका दिल, उसका सिर घृणा, क्रोध और लज्जा की अग्नि में खौलने लगा। हम दूसरों के सामने घृणित से घृणित काम भी कर सकते हैं, पर अपने सम्बन्धियों के सामने सिर झुकाते हुए भी लज्जा लगती है। हम इसे सहन नहीं कर सकते।

पर दीवान साहब ने उसे न पहचाना। वे बड़े

आदमी थे। आज उन्हें रायसाहब का ख़िताब मिला था। वे अख़बार हाथ में लिये हुए लखपतराय के पास पहुँचे और बोले—मित्र बधाई हो! मुझे ख़िताब मिल गया।

सायङ्काल थाने में सूचना पहुँची कि रायबहादुर लखपतराय के चपरासी ने आत्म हत्या कर ली है। यह समाचार ऐमनाबाद पहुँचा, वहाँ कुहराम मच गया। पन्नालाल की माँ और बहनें पछाड़ें खाती थीं। लोग कहते थे—लड़का क्या मरा, सारा घर ही अनाथ हो गया। अब इनका कोई सहारा नहीं रहा। इधर लाहौर में दीवान अमृतलाल के यहाँ जलसा हो रहा था, और लोग उन्हें हँस-हँस कर बधाई दे रहे थे। जब जलसा समाप्त हुआ तब दीवान साहब ने ख़िताब की खुशी में पंजाब-हिन्दू अनाथालय को एक हज़ार रुपया दान दिया।

और दूसरे दिन के समाचार-पत्र उनकी स्तुति से भरे थे।

पाप-परिणाम

(१)

रात के दो बजे साधु अपने गर्म बिस्तरे से उठा, और नदी के तट पर जाकर खड़ा हो गया।

चारों ओर अन्धकार था। आकाश में तारे आँखें मींचते थे। किसी ओर से कोई हल्का सा भी शब्द न सुनाई देता था। संसार और उसका कोलाहल इस शून्य अन्धकार में इस प्रकार डूब चुके थे, जिस प्रकार कोई नौका अपने यात्रियों समेत समुद्र की गरजती हुई लहरों में समा जाये। साधु के पाँव की चाप दूर-दूर तक सुनाई दे रही थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो प्रकृति की निस्तब्धता उस साधु के कुसमय के हस्ताक्षेप के विरुद्ध विद्रोह कर रही है। परन्तु जिस प्रकार साधु ने मनोहर स्वप्नों से भरे हुए गर्म बिस्तर और उसके शोभामय सुख तथा विश्राम का विचार न किया था, उसी प्रकार प्रकृति

की इस मौन-भँजक चीख़-पुकार की परवा न की, और अपनी कुटिया से निकल कर नदी-तीर पर पहुँच गया।

पानी बहुत ठण्डा था, जैसे किसी बेपरवा नौकर ने अपने शराबी मालिक के बार-बार के तगादों से तँग आकर थोड़े से पानी में बहुत सी बर्फ़ डाल दी हो। साधु ने उसकी ओर देखा, और उसका हृदय काँप गया। उसने बैठ कर पानी में हाथ डाला, और डर कर पीछे हटा लिया। मालूम होता था, नदी भी इस हस्तात्तेप को सहन न करती थी। उसने अपने सम्पूर्ण बर्फ़ानी प्रभाव की परीक्षा साधु के हाथ पर की, और परिणाम देखने के लिए ठहर गई। परन्तु साधु पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। उसने तत्काल अपनी काली कमली शरीर से अलग की, और आँखें बन्द करके जल में कूद पड़ा।

साधु पर मूर्च्छा की सी दशा छा गई। वह जल के साथ साथ इस प्रकार बहने लगा, जैसे कोई अपराधी सिपाहियों से घिरा हुआ थाने को जा रहा हो। एकाएक वह अपने पाँव नदी के जल से भी अधिक ठण्डी रेत पर जमा कर खड़ा होगया, और अपने शरीर तथा आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति से तट पर जा चढ़ा। इस समय उसके

मुख पर आनन्द बरसता था। अपराधी सिपाहियों के घेरे से बाहर निकल आया था।

थोड़ी देर के बाद वह अपनी कुटिया में वापस आ गया, और अपने बिस्तर के पास खड़ा होकर उसको बेबसी की दृष्टि से देखने लगा, जैसे कोई भूख का मारा ग़रीब धनवान् मनुष्य को अच्छे अच्छे खाने खाते देख कर व्याकुल हो जाता है। परन्तु इसके सिवा कुछ नहीं कर सकता कि अपनी बेबसी पर सन्तोष करे। यहाँ उसने अपनी कमली फिर उतार दी और कोने से एक कोड़ा उठा कर उसे अपनी देह पर पूरे बल से मारने लगा।

वायु मण्डल उसके करुण-क्रन्दन से गूँज रहा था। परन्तु वह अपनी देह पर उसी ज़ोर से कोड़े बरसा रहा था, मानों उसका हाथ उसके शरीर का एक अँग न रहा हो, और वह किसी मनुष्य पर नहीं अपितु निर्जीव माँस-पिण्ड पर अपने बल की परीक्षा कर रहा हो।

जब प्रभात का प्रकाश हुआ, तब लोगों ने देखा, कि साधु अपनी कुटिया के ठण्डे फ़र्श पर अचेत है, और उसके अँगों से रक्त बह रहा है। उन्होंने आग जलाई, और उसके ठण्डे शरीर को कम्बल में लपेट कर उसके निकट रख दिया। जब दो-तीन घण्टे बीत गये, तब उसने आँखें

खोलीं, और ठण्डी साँस लेकर उठ बैठा।

परन्तु अब उसमें वह धैर्य न था। उसका स्थान सिसकियों और हिचकियों ने ले लिया था। कुछ देर बाद, जब उसके आँसू थमे, तो उसने अपने हाथ आग पर गर्म करते हुए कहना आरम्भ किया—

(२)

पचास वर्ष बीते, मैंने निर्धनता की दशा में सँसार के सँग्राम-क्षेत्र में पाँव रक्खा। उस समय न हमारी आवश्यकताएँ इतनी अधिक थीं, न जीवन-सामग्री इतनी महँगी। पचास साठ रुपए कमाने वाला मनुष्य राजा समझा जाता था। मैंने अपनी आँखों से ऐसे मनुष्यों को देखा है, जो पंद्रह-बीस रुपए कमाते थे, और दस बारह मनुष्यों के कुटुम्ब का पालन करते थे, और बड़े राजसी ठाठ से! अब ये बातें स्वप्न हो गई हैं। लोग इन पर विश्वास नहीं करते। रुपए का मूल्य चवन्नी भी नहीं रहा। उस समय लोग निर्धन न हों, सो नहीं है। मैं स्वयं निर्धन था, ऐसा निर्धन कि कई-कई दिन अन्न के बिना बीत जाते थे। मैंने कई जगह नौकरी का यत्न किया, परन्तु कहीं सफलता न हुई। छोटा काम करने को जी न चाहता था। लोक-लाज पाँवों की जञ्जीर बन जाती

थी। मगर जब कई महीने ख़ाली बैठे बीत गए, तब लज्जा दूर हो गई। मैंने मिठाई का खोंचा लगा लिया। थोड़े ही दिनों में हालत बदल गई। सुख से दिन कटने लगे। यहाँ तक कि मेरे पास डेढ़ सौ रुपया नगद जमा था।

इतने रुपए आज-कल के समय में 'कुछ नहीं' के बराबर हैं। परन्तु उस समय लोग इस रुपये को एक भारी रक़म समझते थे। मेरी खुशी का ठिकाना न था! ऐसा प्रसन्न फिरता था, जैसे किसी को पटवारगिरी मिल गई हो। हँसने की बात नहीं, पटवारी का पद उस समय ऐसा भारी पद था, जैसे आज-कल डिप्टी कमिश्नरी भी नहीं। मेरे दिन अच्छे थे, दो परिश्रमी मनुष्यों से भेंट हो गई। उन्होंने कहा—क्या मज़दूरी कर रहे हो, हमारे साथ मिलकर व्यापार करो तो थोड़े दिनों में सोना हो जाओ।

बात साधारण थी, परन्तु मेरे दिल में शौक़ पैदा हो गया। मैंने खोंचे का काम छोड़ दिया, और उनके साथ मिलकर व्यापार करने लगा। हम एक स्थान से सस्ता माल ख़रीदते, दूसरे स्थान पर महँगे भाव बेच देते थे। थोड़े ही दिनों में रुपया कँकरों की तरह आने लगा। पता नहीं, भाग अच्छे थे अथवा हमारी बुद्धि का चम-

त्कार था। मिट्टी को भी हाथ लगाते, तो वह भी सोना हो जाती थी। व्यापार में लाभ भी होता है, हानि भी। परन्तु परमात्मा जिसे देने पर आता है, उसे हानि नहीं होती। मालूम होता है, परमेश्वर उन दिनों हमको देने पर तुला हुआ था। हमें किसी सौदे में हानि न होती थी। इसी प्रकार तीन वर्ष बीत गए। उस समय हमारे पास बहुत सा रुपया था। हमने छोटे-मोटे सौदे करने छोड़ दिए और जेहलम में लकड़ी का काम करने लगे। यह काम धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि हमको इस पर स्वयं आश्चर्य होता था। रुपया पानी की तरह आने लगा। दस वर्ष के बाद जब हिसाब किया गया, तो हमारे हिसाब में दो लाख से ऊपर रुपया जमा था। अब हमारे दिलों में मैल आने लगा। जब तक निर्धन थे, तब तक एक दूसरे पर विश्वास था। अब धनवान हुए, तो वह विश्वास जाता रहा। एक दूसरे पर आँख रखने लगे। कभी कभी जोश में भी आ जाते थे। दौलत ने आँखों पर परदे डाल दिए थे। हम में से प्रत्येक यही चाहता, कि दूसरे भाईवाल मर जाएँ तो सारा धन उसी का हो जाए। कुछ दिन तक यह भाव दबे रहे, जैसे राख तले अंगारे दबे रहते हैं। परन्तु कब तक ? अन्त में यह निश्चय हुआ, कि हिस्सेदारी तोड़

दी जाए और सब अलग अलग हो जाएँ। अब अग्नि के चिंगारे राख से बाहर निकल आए।

(३)

मेरे भाईवाल लाला प्रभुदास और लाला हिकमतराय थे। प्रभुदास समझदार मनुष्य था, और बुरा न था। जो कुछ जी में आता, मुँह से कह देता। वह कोई बात छिपाता न था, न छिपाना चाहता था। उसकी यह दुष्ट प्रकृति (?) हमें एक आँख न सुहाती थी। इसके विपरीत हिकमतराय बड़ा चतुर था। वह अपने भावों को मुख पर न आने देता था। हृदय में क्रोध होता तो हँस हँस कर बातें करता, जैसे उसे कोई दुःख ही नहीं। मैं उसके इस गुण (?) पर मुग्ध हो गया। पीतल पर सोने का धोखा हो रहा था। जब किसी बात पर झगड़ा हो जाता, तब मैं और हिकमतराय एक ओर होते, अकेला प्रभुदास दूसरी ओर! हम दोनों के सामने उसकी एक न चलती थी। दो भेड़ियों के सामने एक ग़रीब कुत्ता कभी नहीं ठहर सकता।

जब अलग अलग होने का निश्चय हो गया, तो हिकमतराय मेरे पास आया, और बोला—लो अलग अलग होने की नौबत आ गई?

मैंने उसके मुँह की ओर देखते हुए कहा—और क्या हो सकता है ?

"यदि यह न होता तो अच्छा था।"

"परन्तु अब तो इकट्ठे न निभेगी।"

"लोग क्या कहेंगे ?"

"कहने दो। हम कर ही क्या सकते हैं ?"

हिकमतराय ने ठण्डी साँस भर कर कहा—इस प्रभुदास ने काम बिगाड़ दिया। नहीं तो हम कभी अलग न होते।

"मेरे सामने उसका नाम न लो।"

"मुझे यह कल्पना भी न थी, कि वह ऐसा मायावी पुरुष होगा।"

"जी चाहता है; उसे गोली से उड़ा दूँ ?"

"उसे अपनी नेकदिली का बड़ा घमण्ड है।"

"दूसरों को तुच्छ समझता है। अब उसके साथ काम करने को जी नहीं चाहता।"

हिकमतराय ने मेरे पास सरक कर रहस्य-पूर्ण दृष्टि से कहा—अस्सी हज़ार रुपये के लगभग ले जायगा।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने कूँए में धकेल दिया हो। कलेजा ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। कहा—

बिलकुल नासमझ है, सारा काम हम दोनों करते रहे हैं। भाग वह भी बराबर का ले जायगा।

"इसमें क्या सन्देह है!"

"मेरा बस चले तो उसे कौड़ी न दूँ।"

"दुहाई मचा देगा। पानी पीना मुश्किल कर देगा।"

"क्या कोई उपाय नहीं?"

हिकमतराय ने आकाश की ओर देख कर कहा—परमात्मा उसे मौत दे, तो हमारा काम बन जाए।

जिस प्रकार सर्प का विष देखते-देखते मनुष्य के शरीर में फैल जाता है, उसी प्रकार ये शब्द मेरे मस्तिष्क में समा गये। सोचने लगा, क्या उसे मौत नहीं आ सकती? दो दिन इसी उधेड़-बुन में बीत गये। तीसरे दिन पता लगा कि प्रभुदास बीमार है। मैं ज़मीन से उछल पड़ा। आशा-लता लहलहाती दिखाई देने लगी। हिकमतराय से सलाह करके भागा-भागा डाक्टर के पास गया। देर तक एकान्त में बातें होती रहीं, परन्तु डाक्टर सहमत न होता था। मैं हारे हुए जुआरियों की तरह रुपये बढ़ाता जाता था, यहाँ तक कि पाँच हज़ार पर बात तय हो गई, और उसने प्रभुदास की औषधि में एक विशेष प्रकार का चूर्ण मिला दिया। उस समय मैं ऐसा प्रसन्न था, जैसे किसी

को रियासत मिल गई हो। प्रभुदास रात को मर गया। उसने अभी तक ब्याह न किया था, न उसका कोई निकट-सम्बन्धी था। एक दूर के सम्बन्धी ने दावा कर के हिस्सा लेने की धमकी दी। परन्तु हमने कह दिया, कि वह हमारा नौकर था, हिस्सेदार नहीं। सहानुभूति के रूप में हमने उसे कुछ रुपये भी दे दिये। इन रुपयों ने उसका मुँह बन्द कर दिया। प्रभुदास का रुपया आधा मैंने ले लिया, आधा हिकमतराय ने। उस समय मुझे तनिक विचार न आया कि यह पाप है। परन्तु आज उसकी स्मृति से भी प्राण निकलते हैं!

(४)

उन दिनों मेरा ब्याह हो चुका था, परन्तु सन्तान कोई न थी। हम दोनों पति-पत्नी पुत्र का मुख देखने को तरसते थे। कभी साधुओं के यहाँ जाते, कभी वैद्यों की औषधियाँ खाते, परन्तु इनसे कुछ न बनता था। जब रुपया बँट चुका, तो मैंने स्त्री को लेकर हरिद्वार की यात्रा की और दो-तीन महीने वहीं टिका रहा। उस समय मुझे विचार आता था, कि मैंने पाप किया है, मुझे सुख न मिलेगा। इस विचार से मेरा हृदय व्याकुल हो जाता था, जैसे किसी ने मछली को गर्म रेत पर रख दिया हो।

आँखों में आँसू भर आते थे। यही चाहता था, यदि सम्भव हो तो बीता हुआ समय लौटा लूँ। परन्तु यह असम्भव था। तब मैं इस विचार को मन से भुला देने का यत्न करता था, और साधु-सन्तों की सेवा करके अपने विचार के अनुसार पाप के कलँक को धो देता था। यदि मुझे उस समय ज्ञान होता कि यह काम इतना सुगम नहीं। जितना मैं समझ रहा हूँ तो मैं कभी बेपरवाई न करता।

मगर मुझे अपने पाप का दण्ड न मिला; प्रत्युत् उसी वर्ष मेरे यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हो गया। मेरे आनन्द का पारावार न था। मेरे पाँव भूमि पर न पड़ते थे। सोचता था; मेरे जैसा भाग्यवान कौन होगा? धन और सुन्दर स्त्री पहले ही से प्राप्त थे, अब सन्तान भी हो गई। सँसार इन्हीं तीन वस्तुओं पर मरता है, मेरे पास तीनों थीं। कारोबार आरम्भ किया। उसमें भी सफलता हुई। अब पाप की स्मृति भी न रही। संसार की क्षणिक सफलताओं और थोड़े दिन के सुखों ने उसे आँख से ओझल कर दिया। पुण्य-कर्म संसार का प्रकाश है, यह विचार मिथ्या सिद्ध हुआ। संसार में पाप फलता है, यह बात सिद्ध हो गई। ज्यों-ज्यों बेटा बड़ा होता गया, आशा अपनी

चादर फैलाती गई। पहले उसकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर किया गया, पश्चात् स्कूल भेज दिया। तुम से क्या कहूँ, वह कैसा प्यारा और सरल-हृदय था। उसके चेहरे पर भोलापन खेलता था। जो देखता, कहता, बड़ा भाग्यवान लड़का है। माता-पिता का नाम रौशन करेगा। मैं यह सुनता, तो आनन्द से झूमने लगता। परन्तु कभी कभी किसी अज्ञात भय से हृदय पर बोझ सा आ पड़ता, जैसे कोई कलेजे पर पत्थर सा रख देता हो।

इसी प्रकार बीस वर्ष बीत गए। बंसीलाल ने बी० ए० की परीक्षा पास कर ली और लॉ कालेज में पढ़ने लगा। मैं यह देखता था, और प्रसन्न होता था। सोचता था, एक दो वर्ष की बात है, बंसीलाल वकील हो जाएगा। उसके पश्चात् जजी मिलना कुछ कठिन नहीं। इस विचार से मेरा हृदय प्रफुल्लित हो जाता था। उन दिनों को आज भी स्मरण करता हूँ तो नेत्रों से लहू के आँसू बहने लगते हैं। मेरा जीवन चाँदनी रात के समान था, जिस में नाच और रङ्गरेलियाँ हो रही हों। सहसा यह मधुर सङ्गीत करुण-विलाप में बदल गया—मेरी स्त्री को ज्वर आने लगा। यह ज्वर कोई साधारण ज्वर न था। सावधानी से इलाज होने लगा। परन्तु एक महीना बीत गया, और ज्वर

न उतरा। दूसरा और तीसरा महीना भी इसी प्रकार व्यतीत हो गया, और आराम न हुआ। अब मुझे भी चिन्ता हुई। लाहौर ले जाकर इलाज कराने का विचार किया। उन दिनों पंजाब में डाक्टर हैनरीवुड के डंके बजते थे, उसे दिखाया। उसने बड़े ध्यान से देखा, और मुझ से एकान्त में कहा—तपेदिक़ है, अब न बचेगी।

यह सुन कर मेरे हाथों के तोते उड़ गये। ऐसा मालूम हुआ, जैसे आकाश सिर पर गिर पड़ेगा। डाक्टर की बात का विश्वास न हुआ। आश्चर्य से बोला—"तपेदिक़ है क्या ?"

"हाँ तपेदिक़। शायद बच जाए, नुसख़ा लिखे देता हूँ। मगर कोई आशा नहीं ?"

मैंने पूछा—"किसी पहाड़ पर ले जाऊँ, तो कैसा रहे ?"

"ज़िन्दगी ज़रा लम्बी हो सकती है, मगर बीमारी न जायगी।"

"डाक्टर साहब ! आपसे जो कुछ हो सकता है, कीजिए।"

मेरी आँखों में आँसू थे, शब्दों में हृदय की व्यथा ! डाक्टर साहब ने करुणापूर्वक कहा—"मैं अपनी तरफ़ से

पूरी कोशिश करूँगा, मगर आप यह बात मरीज़ा पर ज़ाहिर न होने दें।"

परन्तु यह बात उस पर प्रकट हो गई। पता नहीं किस तरह? एक दिन उसने मुझ से रोते-रोते कहा—"मेरे मरने में अब अधिक दिन नहीं। अब बंसी का ब्याह कर दो, यह तो अपनी आँखों से देख लूँ।"

मैंने उसकी यह मनोकामना पूरी कर दी। उसी महीने बंसी का ब्याह हो गया। इस के बाद हम सब सोलन चले गए। आशा अन्तिम श्वास तक साथ नहीं छोड़ती।

(५)

परन्तु वह न बची। छः मास के पश्चात् उसका जीवन-प्रदीप निर्दयी मृत्यु के निष्ठुर झोंकों ने बुझा दिया। मुझ पर विपत्ति टूट पड़ी। बंसी की दशा तो देखी न जाती थी। किसी ब्याहे हुए लड़के को अपनी माता से इतना प्रेम हो सकता है, यह मेरे लिए नया अनुभव था। वह फूट-फूट कर रोता था। मैं उसे समझाता था, धीरज देता था, परन्तु उसका रोना कम न होता था। उसका उदास मुख देख कर मुझे अपना दुःख भूल जाता था। मुझे कोई ऐसा दिन याद नहीं, जब बंसी अपनी माँ को

याद कर के न रोया हो। कभी वह पुस्तकों का कीड़ा था। परन्तु अब पुस्तक देखने को उसका जी न चाहता था। हारमोनियम का शौक़ था, वह भी न रहा। दिन-रात उदास रहने लगा। मेरे हृदय में नई चिन्ता उत्पन्न हुई। मैंने उसका जी बहलाने का प्रयत्न किया, परन्तु मुझे इसमें भी सफलता न मिली। लोग अपने पुत्रों के विषय में शिकायत करते हैं कि उन्हें माता-पिता से स्नेह नहीं। मैं चाहता था कि कदाचित् बंसीलाल में यह दोष होता, तो मुझे ये दिन न देखना पड़ता। परन्तु जो ललाट में लिखा हो, उसे कौन मिटाए। बंसीलाल भी बीमार रहने लगा।

इतने में मालूम हुआ, मेरा कारोबार नष्ट हो गया है। जिस कारिन्दे के हाथ मैंने काम-काज सौंप रक्खा था, उसने मुझे धोखा दिया, और दो-अढ़ाई लाख रुपया उड़ा कर भाग निकला। यह देख कर मेरे पाँव-तले की मिट्टी निकल गई। बंसीलाल और उसकी स्त्री को सोलन छोड़ कर मैं जेहलम पहुँचा। परन्तु वहाँ कारिन्दा कहाँ था? समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिये, पुलिस में रिपोर्ट की, लेकिन वह न पकड़ा जा सका, न डूबा हुआ ही रुपया बचा। मैंने कारो-बार के सम्भालने का असीम प्रयत्न किया, मगर वह न सम्भला। दिन-पर-दिन दशा बिगड़ती गई। जिस काम में

हाथ डालता था, उसी में हानि हो जाती थी।

इस प्रकार चार महीने बीत गए, और बंसीलाल और उसकी स्त्री सोलन से लौट आए। उसका मुख देख कर मेरे प्राण होठों तक आ गए। मैं डाक्टर नहीं हूँ, न मैंने चिकित्सा का कोई ग्रन्थ ही देखा है। परन्तु मैंने अपनी स्त्री की बीमारी देखी थी। मुझे बंसीलाल के मुख पर वही रँग दिखाई दिए, जो मेरी मृत-पत्नी के मुख पर थे। मेरे कलेजे पर जैसे किसी ने अङ्गारे रख दिए। मैंने बंसीलाल से कुछ न कहा, परन्तु अपने कमरे में जाकर रात भर रोता रहा। दूसरे दिन डाक्टर को दिखाया। मेरी आँख फड़कने लगी—माँ के बाद पुत्र की बारी थी। फिर तपेदिक़! मेरा मस्तक चकराने लगा। मैंने निश्चय कर लिया कि अपनी बची खुची सम्पत्ति लुटा दूँगा, डाक्टर की सम्मति पर अक्षरशः चलूँगा, सावधानी में कोई कसर न उठा रक्खूँगा, और इस प्रकार पुत्र को मृत्यु के पञ्जे से छुड़ा लूँगा। मैं बंसी और उसकी स्त्री को लेकर सोलन चला गया। परन्तु रोग कम न हुआ। डाक्टरों ने सम्मति दी कि उसे स्विट्ज़रलैण्ड के सैनिटोरियम में भेज दो, वहाँ जाकर बच सकती है। मेरे पास पन्द्रह हज़ार के लगभग रुपया बच रहा था। यह रुपया मुझे बहुत प्यारा था,

परन्तु बंसीलाल के सम्मुख उस रुपये की क्या तुलना थी ! मैंने उसे स्विट्ज़रलैण्ड भेज दिया।

वह वहाँ दो वर्ष रहा। वहाँ उसका स्वास्थ्य बहुत कुछ अच्छा हो गया। यहाँ तक कि मेडिकल बोर्ड ने फ़ैसला दे दिया कि उसे अब कोई बीमारी नहीं है। इस सूचना से मेरे आनन्द का पारावार न रहा। सारा दिन नाचता फिरता था। बंसीलाल ने अपना फ़ोटो भी भेजा था। उससे देख पड़ता था कि पहले की अपेक्षा उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। चेहरा भी भर गया था। अब मैं उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा कि वह कब वापस आए, और मैं उसे प्रेम से गले लगाऊँ। परन्तु जब वह दिन आया, तब मेरी आशाओं पर ओस पड़ गई। बंसीलाल हिन्दुस्तान आ गया, परन्तु अपना स्वास्थ्य वहीं छोड़ आया। यदि मेरे पास और रुपया होता तो मैं रुपये का मुँह न देखता। मगर मेरी अवस्था दिन-पर-दिन गिर रही थी। मैंने अपनी ओर से पूरा यत्न किया कि कहीं से रुपया मिल जाए, तो बंसी को फिर स्विट्ज़रलैण्ड भेज दूँ, परन्तु रुपये का प्रबन्ध न हो सका।

(६)

छः महीने बीत गए।

प्रातःकाल था। मैं बंसीलाल के पास बैठा, उसके मुँह की ओर देख रहा था। आज उसकी अवस्था बहुत बिगड़ रही थी। न मुँह पर लाली थी, न आँखों में चमक। उनके स्थान पर लाश की सी ज़रदी छा गई थी। मैं यह देखता था और रोता था। उस समय मेरा सारा जीवन मेरी आँखों के सामने था। वे दिन याद आ गए, जब मैंने मिठाई का खोंचा छोड़ कर व्यापार आरम्भ किया था। पास धन न था, परन्तु हृदय में शान्ति का वास था। अब वे दिन कहाँ थे? मैंने जेब में हाथ डाल कर देखा, तो उस समय मेरे पास केवल डेढ़ सौ रुपये थे। मैं चौंक पड़ा। भूली हुई घटनाएँ आँखों तले फिर गईं। इतने ही रुपयों से मैंने व्यापार आरम्भ किया था। उस समय न स्त्री थी, न पुत्र। क्या परमात्मा मुझे आज फिर उसी दशा में फेंकने का प्रबन्ध कर रहा है? स्त्री पहले जा चुकी थी, बेटा अब जा रहा था!

एकाएक बंसीलाल ने ज़ोर से अँगड़ाई ली, और चारपाई पर तड़पने लगा। मैंने हृदय को अन्तिम चोट के लिए तैयार किया, और उठकर मरने वाले के ऊपर झुक गया। वह जान तोड़ रहा था। मैंने भर्राई हुई आवाज़ से कहा—बंसी!

बंसी ने बेहोशी में उत्तर दिया—हाँ।

"होश करो।"

"हाँ होश में हूँ।"

"मैं कौन हूँ ?"

बंसीलाल ने मेरी ओर बड़े ध्यान से देखा, और तब कहा—मेरा भाईवाल।

यदि मेरे गले में साँप लिपट जाता, तो भी मुझे ऐसा आश्चर्य न होता, जैसा इस उत्तर से हुआ। हृदय पर घोर आतङ्क-सा छा गया, मानो किसी ने फाँसी के तख़्ते पर चढ़ा दिया हो। परन्तु मुझे फिर विचार आया, बंसी बेसुध है, यों ही बड़बड़ा रहा है, इस लिए मैंने फिर पूछा—

"बंसी!"

"हाँ।"

अब स्वर अधिक स्पष्ट था।

"यह कौन है ?"

इशारा उसकी स्त्री की ओर था।

बंसी ने अपनी पथराई हुई आँखें अपनी स्त्री की ओर उठाईं और कहा—डाक्टर।

"तुम कौन हो ?"

"प्रभुदास।"

सन्देह निश्चय बन गया। मैं खड़ा न रह सका। मेरे शरीर की शक्ति जैसे पृथ्वी ने खींच ली। पाप का परिणाम ऐसा दुःखदायक होगा, यह ख्याल भी न था।

मैंने पुनर्जन्म की कथाएँ सुनी थीं, परन्तु उन पर विश्वास न आता था। इस समय प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया।

बंसी मर गया, मेरी आँखों में आँसू न थे। उन्हें पापों की अग्नि ने सुखा दिया था। मैंने उसका दाह-संस्कार किया और जेहलम से निकल आया। उसके पश्चात् मैंने आजतक वहाँ पाँव नहीं रक्खा।

अब मैं प्रति दिन अपने शरीर को कष्ट देता हूँ, कोड़े मारता हूँ और प्रत्येक मनुष्य को यह कहानी सुनाता हूँ, और फिर लोगों के सामने सिर झुका कर प्रार्थना करता हूँ कि मेरे सिर पर पाँच पाँच जूते लगा दो। कदाचित् इसी से मेरा पाप धुल जाए।

यह कहते कहते साधु ने अपना सिर नीचे झुका दिया।

खरा-खोटा

(१)

पण्डित प्रभुदत्त बैरिस्टरी पास करके लौटे, तो प्रायः रात भर घर से बाहर रहने लगे। उनके मित्र बहुत थे, प्रतिदिन किसी न किसी के घर दावत रहती। बूढ़े पिता कौशल्यादास कुछ बहुत पढ़े-लिखे न थे, परन्तु उन्होंने संसार का ऊँच-नीच देखा था। पुस्तकों के जानकार न थे, परन्तु सांसारिक अनुभव के धनी थे। बेटे के रङ्ग-ढङ्ग देख कर मन ही मन कुढ़ते थे, परन्तु मुँह से कुछ कहते न थे। मगर जब बेटा रात के बारह बारह बजे तक बाहर रहने लगा तब उनके धीरज का प्याला छलक उठा। रोगी दिन की पीड़ा सहन कर लेता है, परन्तु रात्रि का दुःख छाती का भार हो जाता है। उसे सहन करना सुगम नहीं। पण्डित कौशल्यादास की भी यही दशा थी। वे समझते थे, ये लच्छन अच्छे नहीं, बेटा हाथ से निकला

जाता है। रात को घर से बाहर रहना दुर्व्यसनों की भूमिका है। कुछ दिनों तक सोचते रहे कि कुछ कहें या न कहें; कहीं बेटा बुरा न मान जाय, कहीं सामने न बोल उठे, आजतक कभी सामने नहीं हुआ; कहीं ऐसा न हो, मेरी डाँट-डपट सदा के लिए उसे मेरे हाथ से गँवा दे।

पण्डित कौशल्यादास ने कुछ दिनों तक फिर मुँह न खोला, जिस प्रकार कोई कोई वैद्य रोग के आरम्भ में दवा नहीं देते। परन्तु जब उन्होंने देखा कि रोग दिन पर दिन बढ़ता जाता है और यह व्यसन स्वभाव बन रहा है तब तो चुप रहना कठिन हो गया। एक दिन बोले—बेटा, दिन को जहाँ चाहो रहो, पर रात को बाहर न रहा करो। तुम वहाँ जलसे रचाते हो, हम यहाँ तारे गिनते रहते हैं।

प्रभुदत्त बाहर जाने को तैयार थे। यह सुन कर उनके पाँव रुक गये, धीरे से कहने लगे—मैं इन दावतों से स्वयं दुःखी हूँ। आप कदाचित् विश्वास न करेंगे। पर मैं सच कहता हूँ, शाम को घर से निकलने को जी नहीं चाहता। परन्तु क्या करूँ। जब कोई मित्र बुला भेजता है तब 'न' करना कठिन हो जाता है।

कौशल्यादास—तो क्या प्रतिदिन तुम्हारे मित्र ही बुला भेजते हैं, मुझे यह ख़याल न था।

प्रभुदत्त—मैंने विलायत में शिक्षा पाई है, परन्तु मुझे वहाँ का पानी नहीं लगा। मैं उन मनुष्यों में हूँ जो पिता की आज्ञा न मानना पाप समझते हैं। अब जो हो गया सो हो गया। पर आज से सायंकाल के पश्चात् कभी घर से बाहर पाँव न रक्खूँगा।

कौशल्यादास की आँखों में आँसू आ गये, प्यार से बेटे की ओर देख कर बोले—तो क्या आज भी किसी मित्र के यहाँ जा रहे हो ?

प्रभुदत्त—जी हाँ। डाक्टर कपिलदेव ने बुलाया है।

कौशल्यादास—और कल कहाँ गये थे ?

प्रभुदत्त—प्रोफ़ेसर घोष के यहाँ।

कौशल्यादास—परन्तु तुम तो लगातार कई दिनों से सायङ्काल बाहर जाते और आधी रात को लौटते हो। क्या तुम्हारे इतने मित्र हैं ? मुझे सन्देह है, वे तुम्हारे मित्र न होंगे। परिचित होना और बात है। आज-कल सच्चा मित्र मिलना बहुत कठिन है।

प्रभुदत्त के आत्मसम्मान को चोट पहुँची, मुँह लाल हो गया, फिर भी सँभल कर बोले—मुझे इनमें हर एक

पर विश्वास है। चाहूँ तो सिर उतार लूँ, चूँ तक न करेंगे।

कौशल्यादास—यह सब कहने की बातें हैं। नई सभ्यता बातें बहुत करती है, परन्तु कर्म-क्षेत्र में उसे दो पग भी चलना असम्भव हो जाता है।

प्रभुदत्त की भौंहें टेढ़ी हो गईं, सिर उठा कर बोले—मेरे मित्र सच्चाई के पुतले हैं।

कौशल्यादास—तुम बुरा तो मानोगे, परन्तु एक प्रश्न का उत्तर दो। क्या तुमने कभी उनकी परीक्षा भी की है?

प्रभुदत्त–परीक्षा उसकी की जाती है, जिस पर सन्देह हो। वे सन्देह से परे हैं।

कौशल्यादास—परन्तु मैं तो जब तक परीक्षा न कर लूँ तब तक विश्वास नहीं करता। तुम्हारे मित्रों पर कैसे भरोसा कर लूँ।

प्रभुदत्त की आँखें आग के समान लाल हो गईं, परन्तु पिता की ओर देखकर क्रोध ठण्डा होगया, जैसे किसी ने आग पर पानी का लोटा डाल दिया हो। जब तनिक अपने आपे में आये तब बोले—आप चाहें तो परीक्षा कर लें। जब सोना खरा है तब उसे कसौटी से क्या डर है?

(२)

रात के एक बजे कौशल्यादास और प्रभुदत्त घर से निकले और लाला सिकन्दरलाल के मकान पर पहुँचे। ये साहब उस शहर के सबसे बड़े ठेकेदार थे। इनसे और प्रभुदत्त से पुरानी प्रीति थी। स्कूल में भी एक साथ पढ़े थे। बचपन के दिनों को याद करके उनकी आँखों में आँसू आ जाते थे। प्रभुदत्त को यों तो अपने सब मित्रों पर विश्वास था, परन्तु लाला सिकन्दरलाल से उनका विशेष प्रेम था। उनकी प्रेम-सनी हुई बातें सुनकर उनका मन विह्वल हो जाता था, और वे आनन्द से झूमने लग जाते थे। कौशल्यादास ने सबसे पहले उन्हीं की परीक्षा का निश्चय किया। इस समय कौशल्यादास की काँख में एक कपड़ा था, जिसमें कोई वस्तु लपेटी हुई थी।

सिकन्दरलाल ने प्रभुदत्त और कौशल्यादास को अपने मकान पर देखा, तो बहुत प्रसन्न हुए, जैसे किसी बच्चे को चन्द्रमा मिल गया हो। बार-बार कहते—यह मेरा सौभाग्य है जो आपके दर्शन हुए। प्रभुदत्त तो प्रतिदिन आता है, परन्तु आपके चरणों से मेरा घर आज ही पवित्र हुआ है।

कौशल्यादास ने बात काट कर कहा—बेटा! क्या

कहूँ, तुम्हारे भाई ने अनर्थ किया है। इस समय तुम्हारे पास आया हूँ, तुम सहायता न करोगे तो बचाव कठिन है।

सिकन्दरलाल ने प्रभुदत्त की ओर देखा, और डर गये। इस समय न होंठों पर वह मुस्कराहट थी, न नेत्रों में वह प्रकाश। निराशा की मूर्ति इस से अच्छी किसी चतुर चित्रकार ने भी कम बनाई होगी। क्या यह वही हँसमुख प्रभुदत्त था, जिसकी मृदु मुस्कान-भरी आँखें मित्र-मण्डली में रौनक़ भर देती थीं, तब आँखें इतनी उदास और इतनी चिन्तित न होती थीं, उस समय मुख पर शान्त मुस्कराहट खेलती थी, अब निराशा की पीली छाया थी।

चकित होकर सिकन्दरलाल ने पूछा—परन्तु बात क्या है?

कौशल्यादास ने थोड़ी देर सोचा, और फिर चारों ओर देख कर धीरे से कहा—तुम्हारे मित्र ने आज अपनी स्त्री को मार डाला है।

सिकन्दरलाल चौंक पड़े। पिता-पुत्र की ओर घूर घूर कर देखा और सोचने लगे—ये यहाँ क्यों आ गये, मैं इनकी क्या सहायता कर सकता हूँ। रात के एक बजे

आये हैं, पहले पता होता तो किवाड़ ही न खोलता। नौकर से कहलवा देता, बीमार हैं, इस समय जगाने से मना किया है। परन्तु अब क्या करूँ? इसको भी मेरा ही घर सूझा। और पचासों मित्र हैं। किसी दूसरे के पास क्यों नहीं ले गया। मुझ से यह तो न होगा। पराई आग में न गिरूँगा। किसी के कान में भनक भी पड़ गई तो मारा जाऊँगा। घर की तलाशी होगी, पुलिस पकड़ कर ले जायगी, और सम्भव है, फाँसी पर भी लटकाया जाऊँ। उस समय यह मित्रता मेरे किस काम आयगी। परन्तु 'न' कैसे करूँ, सैकड़ों बार सच्चे प्रेम के दावे किये हैं, प्यार की सौगन्धें खाई हैं। यह मन में क्या कहेगा।

इन विचारों ने सिकन्दरलाल को कई मिनट तक मग्न रक्खा, फिर बोले—मुझे यह बात सुन कर अत्यन्त दुःख हुआ। इनके लिए मैं प्राण तक दे सकता हूँ, परन्तु मेरे पड़ोस में इन्स्पेक्टर पुलिस रहता है। क्या बताऊँ, बड़ा ही दीर्घदर्शी और बात को ताड़ जानेवाला है। उसकी आँखें हृदय की तह तक पहुँचती हैं। और मेरे जैसे दुर्बल-हृदय मनुष्य की आँखें तो अपने आप ही क्षण-मात्र में सारा भेद खोल देंगी। तो भी मैं आपसे

बाहर थोड़ा ही हूँ। आज्ञा कीजिए। मैं उसका पालन करूँगा।

प्रभुदत्त ने जब यह सुना, आश्चर्य्य से उसकी आँखें खुल गईं। उसे यह आशा न थी। वह समझता था, सिकन्दरलाल मेरे लिए फाँसी पर चढ़ने को तैयार हो जायगा। परन्तु इस उत्तर से वह भौंचक रह गया। उसके तन में उस समय आग सी लग गई। ख़याल आया कि यह मनुष्य जब मेरे लिए कुछ करने को तैयार नहीं तब फिर मुँह से इतनी बातें बनाने की क्या आवश्यकता है। स्पष्ट शब्दों में क्यों नहीं कह देता कि मुझसे कुछ न हो सकेगा। कोई सीधा-सादा मनुष्य यही बात कहने के लिए साफ़ साफ़ शब्दों में अपने प्रयोजन को प्रकट कर देता। उस समय उसके मन में यही विचार आया कि क्या सभ्यता कुटिलता का दूसरा नाम है।

तब उसने अपनी आँखें संसारदर्शी पिता की ओर उठाईं। उनमें अनन्त भाव छिपे थे। सिकन्दरलाल को उनमें कुछ न दिखाई दिया, परन्तु कौशल्यादास को ऐसा प्रतीत हुआ, मानों प्रभुदत्त स्पष्ट कह रहे हैं, चलो यहाँ क्या रक्खा है, मैंने बहुत बड़ा धोखा खाया, मुझे यह

आशा न थी। आँखों की भी भाषा है, पर इसे समझना आसान नहीं।

(३)

इसके आध घण्टा बाद पिता-पुत्र दोनों नगर से बाहर निकले और एक बहुत बड़ी कोठी में पहुँचे। यहाँ मिस्टर के० सी० सेठी इञ्जीनियर रहते थे। ये भी प्रभुदत्त के मित्र थे, और इन पर भी प्रभुदत्त को बहुत भरोसा था। आज कौशल्यादास इनके प्रेम की परीक्षा लेने चले। परन्तु प्रभुदत्त के पाँव आगे नहीं बढ़ते थे। उनमें किसी ने रस्सा नहीं डाला, बेड़ियाँ नहीं डालीं, उन्हें कोई रोक नहीं रहा था, वे थके-माँदे नहीं थे, फिर भी उनके पाँवों में शक्ति न थी। परन्तु उन पाँवों से तो अधिक निर्बल उनका हृदय था।

मिस्टर सेठी जगाये गये, तो वे पहले बहुत सटपटाये। परन्तु जब उनको बताया गया कि पण्डित प्रभुदत्त और उनके पिता आये हैं तब चुप होगये। जल्दी से मरदाने में आकर बोले—आप बहुत रात बीते आये हैं, यह तो मिलने का समय नहीं है। कोई विशेष घटना हो गई है, ऐसा जान पड़ता है। कहिये क्या आज्ञा है?

पण्डित कौशल्यादास ने प्रभुदत्त की ओर इशारा

किया और उत्तर दिया—तुम्हारे भाई ने आज अपनी स्त्री को मार डाला है। हमने उसका शरीर तो आँगन में दबा दिया है, पर जब सिर दबाने लगे तब नौकरों की आँख खुल गई। अब हम सिर का क्या करें? बाहर दबाना बहुत कठिन है। यदि कोई देख लेगा तो आफ़त हो जायगी। वैसे फेंक देना भी उचित नहीं, अब तो तुम्हारी शरण आये हैं, अपने घर में स्थान दो, आयु भर तुम्हारा उपकार न भूलूँगा।

मिस्टर सेठी ने कुछ देर तक विचार किया और फिर बोले—क्षमा कीजिए, मैं स्पष्ट कहनेवाला मनुष्य हूँ, मुझे झूठ बोलना अच्छा नहीं लगता। मैं आपको धोखे में नहीं रखना चाहता, यह काम मेरे वश का नहीं। और जो कहो, कर सकता हूँ, पर अपने आपको इस हत्या के अभियोग में फँसाने की मुझमें शक्ति नहीं। मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं, उनका क्या बनेगा?

प्रभुदत्त के अन्देशे पूरे होगये। यह जल का ठण्डा स्रोत न था, ढाढ़ें मारनेवाली नदी न थी, यह जलते रेत का स्थल था, इसमें आकर्षण था, पर सच्चाई न थी, इसमें मोहनी थी, पर प्रेम न था। प्रभुदत्त की आँखों में आँसू आगये। हृदय में आग लगी थी, यह उसका

धुँआ था, प्रभुदत्त की आँखें भर गईं। यह हानि साधारण न थी। उन्होंने मित्रों की प्रीति खो दी थी। इसकी अपेक्षा वे अपने प्राण दे देना भी तुच्छ समझते थे।

(४)

आकाश में तारे जगमगा रहे थे, पृथिवी पर बिजली के लैम्प जल रहे थे, परन्तु प्रभुदत्त के हृदय में अथाह अन्धकार छाया हुआ था। चारों ओर देखते थे, परन्तु कहीं आशा-किरण दिखाई न देती थी। सोचते, आज तक भोंदू ही बना रहा। कैसी मीठी मीठी बातें करते थे? ऐसा जान पड़ता था, मानों इनके बराबर मेरा और कोई शुभचिन्तक न होगा, प्राण तक निछावर कर देंगे। मुझे इनके शब्दों पर कभी सन्देह तक नहीं हुआ। मैं समझता था, सब कुछ हो सकता है, केवल यही नहीं हो सकता। पर आज आँखें खुल गईं। मैं भी कैसा मूर्ख था, दूध के धोखे छाछ पीता रहा, और कभी सन्देह तक नहीं हुआ। मैं बुद्धि-हीन अन्धा था। स्वर्ण के ख़याल में पीतल उठा लाया, परन्तु आज अन्धकार दूर हो गया। अब धोखे में न आऊँगा।

प्रभुदत्त इन विचारों में मग्न थे, और उनके सामने बैठे कौशल्यादास बेटे की अज्ञानता पर हँस रहे थे।

थोड़ी देर बाद उन्होंने पूछा—क्यों बेटा ! अभी क्या किसी और पर भी विश्वास है। यदि है तो चलो उसकी भी परीक्षा कर लें।

प्रभुदत्त ने लज्जा से आँखें झुका लीं, और उत्तर दिया—अब और लज्जित न करें। इनका इस तरह आँखें फेर लेना मुझे कभी न भूलेगा।

कौशल्यादास—तुम्हें इनके ऊपर बहुत भरोसा था !

प्रभुदत्त—पर अब कान हो गये।

कौशल्यादास—कैसी बढ़ बढ़कर बातें बनाते थे ?

प्रभुदत्त—झूठ की जिह्वा बहुत चलती है।

कौशल्यादास—चलो, तुम्हारी आँखों से पर्दा तो हटा।

प्रभुदत्त—यह मेरे जीवन का पहला अनुभव है, आज से किसी पर भरोसा न रक्खूँगा। एक अँगरेज़ फ़िलासफ़र का वचन है, संसार में परमेश्वर मिल सकता है, मित्र नहीं मिल सकता। मैं इस विचार पर हँसा करता था, परन्तु आज इस पर विश्वास होगया।

कौशल्यादास—यह भी तुम्हारी भूल है। सृष्टि सच्चे मित्रों से शून्य नहीं है, परन्तु यह वस्तु किसी किसी भाग्य-वान् के ही हाथ लगती है।

प्रभुदत्त—मैं तो इसे भी भूल ही समझता हूँ, परियों के समान सच्चे मित्रों की कहानियाँ सभी ने सुनी हैं, परन्तु उन्हें देखा किसने है ?

कौशल्यादास—मैंने देखा है।

प्रभुदत्त—मुझे तो अब विश्वास नहीं होता। आपने भी परीक्षा न की होगी।

कौशल्यादास—अच्छी तरह कर चुका। चाहो तो तुम भी परख लो। फिर तो मानोगे ?

प्रभुदत्त—परन्तु मेरा हृदय नहीं मानता। ये भी बड़ी बड़ी बातें बनाते थे।

कौशल्यादास—तो रात को तैयार रहना, मैं तुम्हें आज अपना मित्र दिखाऊँगा। तुम देख कर चौंक उठोगे। तुम्हारी आँखें खुल जायँगी। तुम कहोगे, क्या यह भी इस कलियुग में हो सकता है। परन्तु मेरे मित्रों की संख्या अधिक नहीं है। मैंने सारी आयु में केवल एक मित्र बनाया है, और यह वह मित्र है जो प्राण दे देगा, पर मित्रता न देगा।

(५)

आधी रात का समय था, पिता-पुत्र फिर घर से बाहर निकले और चक्करदार गलियों से गुज़रते हुए एक छोटे से

मकान के सामने जा पहुँचे। कौशल्यादास ने आवाज़ दी—लाला साईंदास !

लाला साईंदास सो रहे थे, आवाज़ सुन कर जाग पड़े और नीचे झांक कर बोले—कौन है इस समय ?

"मैं हूं दरवाज़ा खोल दे।"

लाला साईंदास ने आवाज़ पहचानी और समझ गए कि कोई विपत्ति आई है, नीचे आकर बोले—क्या बात है ? साफ़ साफ़ कह दो।

यह कह कर दोनों को अन्दर ले गये और एक चारपाई पर बैठ गये। कलवाला नाटक फिर से दोहराया गया। कौशल्यादास ने सारी कहानी उसे सुनाई। साईंदास बोले—वह सिर कहाँ है ?

कौशल्यादास ने कपड़े में लपेटी हुई वस्तु की ओर इशारा किया और कहा—वह मेरे पास है।

साईंदास—मुझे दे दो।

कौशल्यादास—क्या करोगे ?

साईंदास—ठिकाने लगा दूँगा।

कौशल्यादास—कहीं भण्डा न फूट जाय !

साईंदास—आशा तो नहीं है।

कौशल्यादास—कोई भाँप न जाय। मामला बहुत बेढब है।

साईंदास—पर तुम्हें कोई कुछ न कहेगा।

कौशल्यादास—क्या करोगे ?

साईंदास—पुलिस लेकर तुम्हारे मकान पर आ जाऊँगा।

कौशल्यादास—हूँ।

साईंदास—ये कैसी बहकी बहकी बातें करते हो ? तुमने शराब तो नहीं पी ली है ? क्या तुमने मुझे पहली बार देखा है ? फाँसी चढ़ जाऊँगा, पर मुँह से एक शब्द न निकालूँगा।

कौशल्यादास—कहना सुगम है पर करके दिखाना कठिन है।

साईंदास—तुम मेरा अपमान कर रहे हो। मैं बहुत बातें नहीं करता, एक बात जानता हूँ। यदि तुम्हें मुझ पर विश्वास है तो सिर मुझे दे दो, मैं अपने आप निपट लूँगा। यदि नहीं तो घर की राह लो।

यह कहकर उन्होंने पिता-पुत्र की ओर लाल लाल आँखों से देखा, जैसे दोनों को खा जायँगे। प्रभुदत्त को इस क्रोध पर प्यार आया। कहते हैं, प्यार का क्रोध

हँसी से अधिक मीठा होता है। यह क्रोध प्यार के क्रोध से भी अधिक मीठा था। यह क्रोध कृत्रिम क्रोध न था, घृणा का क्रोध न था, यह प्रेम का क्रोध था, जिस पर स्वयं प्रेम भी निछावर होता है। प्रभुदत्त की आँखों में पानी आगया। यह पानी कलवाले पानी से कितना भिन्न था? झूठे मोती में सच्चे मोती की आभा आ गई थी।

कौशल्यादास खड़े हो गये और बोले—मुझे तुम्हारी बातों से धोखे की गन्ध आती है, कुछ और प्रबन्ध करूँगा।

प्रेम सब कुछ सह सकता है, परन्तु विश्वासघात का कलङ्क नहीं सह सकता। साईंदास पहले ही क्रोध में थे, इन शब्दों ने आग पर तेल छिड़क दिया। उन्होंने छेड़े हुए नाग की तरह सिर उठाया, और फुङ्कार मारते हुए बोले—मुझे तुमसे यह आशा न थी।

प्रभुदत्त सोचते थे, कितना सज्जन पुरुष है, प्रेम के भाव में तन्मय अपने प्राणों की परवा नहीं, मित्र का ध्यान है। यह मनुष्य नहीं देवता है। वे चाहते थे, अब पिता कुछ न कहें। प्रेम की आँखों में क्रोध देखकर

वे अपने आपको भूल गये, परन्तु कौशल्यादास ने फिर भी कहा—

मैं अन्धा नहीं हूँ, तुम्हारी आँखें तुम्हारे शब्दों का समर्थन नहीं करतीं। तुम्हारी जिह्वा से मधु टपकता है, परन्तु हृदय में विष भरा है। मैं अपनी और अपने बेटे की गर्दन तुम्हारे हाथ कैसे दे दूँ?

साईंदास की आँखों में जल भर आया। पहले बादल गरजता था, अब वर्षा होने लगी। इन आँसुओं का प्रत्येक बिन्दु कौशल्यादास के हृदय पर आग के अङ्गारे बरसाता था। उन्हें अपने आप को सम्भालना कठिन हो गया। वे चाहते थे, आगे बढ़कर उस प्रेम की मूर्ति को हृदय में बिठा लें, परन्तु अभी नाटक समाप्त न हुआ था। उन्होंने एक भावपूर्ण दृष्टि से बेटे की ओर देखा और उठ कर बाहर निकल आये।

साईंदास ने चिल्ला कर कहा—जाते हो तो जाओ, परन्तु एक दिन तुम्हें इस दिन के लिए पछताना पड़ेगा। तुम मूर्ख हो, मैं विश्वासघाती नहीं हूँ।

कुछ दूर जाकर कौशल्यादास ने प्रभुदत्त से भर्राये हुए स्वर में कहा—तुमने देखा?

"बहुत अच्छी तरह।"

"अब क्या कहते हो ?"

"यह मनुष्य नहीं देवता है। चेहरे-मोहरे से बहुत साधारण सा मनुष्य जान पड़ता है, परन्तु इसका हृदय प्रेम का स्रोत है, जैसे पत्थरों तले ठण्डे और मीठे जल का स्रोत बह रहा हो। मनुष्य कितना बेसमझ और अदूरदर्शी होता है, यह आज पता लगा। कल मुझे व्यावहारिक जीवन का पहला अनुभव हुआ था, आज दूसरा अनुभव हुआ है। मेरा तो जी चाहता है, जाकर इसके चरणों से लिपट जाऊँ।

कौशल्यादास—अभी नहीं, तनिक धीरज धरो। मेरे कान में कोई कह रहा है कि इस परीक्षा का कुछ अंश अभी शेष है। पहले उसे भी देख लो, फिर अपनी सम्मति बताना।

कौशल्यादास ने ये बातें ऐसे ढङ्ग से कहीं कि प्रभुदत्त सन्नाटे में आगये। उन्होंने अनुभवी पिता की ओर देखा, परन्तु यह रहस्य उनकी समझ में न आया।

(६)

दो दिन बीत गये, दोपहर का समय था। पण्डित प्रभुदत्त बार-रूम में बैठे एक अँगरेजी का मासिक-पत्र देख रहे थे, मगर उनके हृदय को शान्ति न थी। मित्रों की

रुखाई उन्हें रह रहकर याद आती थी। वे अब पहले प्रभुदत्त न थे। कभी मित्रमण्डली की चर्चा से उनका मुँह कमल के समान खिल जाता था, पर अब इस शब्द में कोई प्रभाव, कोई आकर्षण न रह गया था। मित्रों का नाम सुनते तो मुँह फेर लेते, मानो उनको अपने हृदय के घाव के ताज़ा हो जाने का भय था। इतने में किसी ने उनके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, 'हैलो!'

प्रभुदत्त चौंक पड़े, घूम कर देखा, सिकन्दरलाल थे। वही सिकन्दरलाल जिनके बिना उन्हें चैन न पड़ता था, जिनको देखकर प्रभुदत्त उछल पड़ते थे, परन्तु इस समय उन्होंने उनको उपेक्षा की दृष्टि से, जिसमें दुःख, क्रोध और निराशा मिले हुए थे, देखा, और धीरे से कहा—आइए, विराजिए।

शब्द साधारण थे, परन्तु उनका अर्थ बहुत गहरा था, सिकन्दरलाल का चेहरा उतर गया। जैसे वर्षा की बूँदों से मख़मली कपड़े की आभा मारी जाती है, वैसे ही इन शब्दों से उनके मुँह का रँग उड़ गया, मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उन्होंने बोलना चाहा, परन्तु शब्द होठों पर जम गये। समय पर हमारी जिह्वा भी काम नहीं आती। सोचने लगे, इस समय यों ही आया, सुलह-सफ़ाई करने

आया था, पहली बात भी गँवा कर जाऊँगा। पर अब क्या हो सकता था? सिकन्दरलाल ने रूमाल से मुँह का पसीना पोंछा, और छत के पंखे की ओर देख कर बोले—बड़ी गरमी है—

प्रभुदत्त—इस समय आपको घर से बाहर न निकलना चाहिए था।

सिकन्दरलाल—परन्तु तुम्हारा प्रेम खींच लाया। तुम दो दिन से मकान पर क्यों नहीं आए? ग़ैरहाज़िरी लग गई।

प्रभुदत्त—अब तो रोज़ ही ग़ैरहाज़िरी लगेगी।

सिकन्दरलाल—रूठ गये क्या?

प्रभुदत्त—रूठ जाऊँगा तो आपका क्या बिगड़ जायगा।

सिकन्दरलाल—राह देखते देखते आँखें पक गईं।

प्रभुदत्त ने तीखे होकर कहा कि इस स्वाँग की क्या आवश्यकता है। अब मैंने आपका वास्तविक रूप देख लिया है।

सिकन्दरलाल इस समय तक नरमी से बातचीत कर रहे थे। यह ताना सुन कर गरम होगये, बोले—तुम्हारे लिए जान गँवा देता?

प्रभुदत्त ने अँगरेज़ी का मासिक-पत्र मेज़ पर रखकर

उत्तर दिया—अभी वह बात बहुत दूर थी, तुम तो पहली ही परीक्षा में फ़ेल हो गये।

सिकन्दरलाल—मित्रों से बोलते समय तुम्हें अधिक सावधान रहना चाहिये।

प्रभुदत्त—पर मैं आपको मित्र नहीं समझता।

सिकन्दरलाल की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। कुर्सी पर बैठे थे, खड़े हो गये और चिल्लाकर बोले—तो अब मैं तुम्हारा शत्रु होगया।

प्रभुदत्त—मैं शत्रु को तुमसे अच्छा समझता हूँ।

सिकन्दरलाल—समझते हो, क्या कह रहे हो?

प्रभुदत्त—अच्छी तरह समझता हूँ।

सिकन्दरलाल—तुम्हारी जान मेरी मुट्ठी में है। चाहूँ तो आन की आन में पीस डालूँ।

प्रभुदत्त ने घृणा से कहा—पीस डालो, यह भी पछतावा मन में न रह जाय। परन्तु फिर कभी मित्रता का शब्द मुँह पर न लाना।

सिकन्दरलाल को ऐसा जान पड़ा, जैसे किसी ने कलेजे में छुरा भोंक दिया हो, उनका लहू खौलने लगा, लाल-लाल आँखों से प्रभुदत्त की ओर देखा और उठ कर बाहर निकल गए।

(७)

प्रभुदत्त की अन्तिम आशा भी जाती रही। उनका ख़याल था कि मेरे मित्र पछता रहे होंगे। मूर्ख हैं, पर अविश्वासी नहीं। उन्हें जब अपनी भूल का ज्ञान होगा तब क्षमा माँगेंगे, गिड़गिड़ायँगे, और कदाचित् उनके पाँओं पर गिर पड़ेंगे। आशा जा चुकी थी, आशा की झलक बाकी थी, परन्तु सिकन्दरलाल की आँखें देख कर उनकी यह झलक भी जाती रही। कदाचित् कुछ हानि पहुँचाने पर उद्यत हो जाय, यह डर अवश्य हो गया। विश्वास पर्वत का पत्थर है, जो अपने स्थान से गिरने पर नीचे ही गिरता जाता है।

परन्तु एक-दो घण्टे बीत गये, और कोई न आया, यहाँ तक कि चार बज गये और कचहरी के बन्द होने का समय हो गया, परन्तु फिर भी पुलिस का कोई अधिकारी प्रभुदत्त की खोज में न आया। प्रभुदत्त की आशंका निर्मूल सिद्ध होने लगी। अब उन्हें अपनी ढिठाई दिखाई देने लगी, सोचते थे, मैंने उनसे बहुत अन्याय किया, जो उन पर ऐसा सन्देह किया। वे डरपोक हैं, परन्तु विश्वासघात का दोष उन पर नहीं लगाया जा सकता। मैंने कैसी कड़वी बातें उनसे कहीं, कैसा

रूखा व्यवहार किया, कोई सभ्य मनुष्य इससे अधिक क्या कहेगा। पर उन्होंने लहू का घूँट पिया और अपने हृदय को मसोस कर चले गये। विचार-धारा यहाँ तक ही पहुँच पाई थी कि कमरे का दरवाज़ा खुला और पुलिस के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेण्ट अन्दर आ गये। प्रभुदत्त चौंक पड़े, आशा की आई हुई झलक फिर अथाह अन्धकार में लोप होगई, परन्तु आज इस अन्धकार ने उनके हृदय की आँखें खोल दीं। प्रभुदत्त ने खड़े हो कर क्लार्क साहब से हाथ मिलाया और मुस्करा कर कहा—आप इधर कैसे भूल पड़े ?

क्लार्क साहब ने प्रभुदत्त के चेहरे की ओर देखा, परन्तु वहाँ उन्हें भय के कोई चिन्ह दिखाई न दिये, जो प्रत्येक अपराध अपराधी के चेहरे पर छोड़ जाता है, खिसियाये से होकर बोले—आपका मिज़ाज अच्छा तो है ?

प्रभुदत्त खिलखिला कर हँस पड़े और फिर बोले—हत्यारे के मिज़ाज कभी अच्छे नहीं हो सकते।

क्लार्क साहब चकित थे। वे समझ न सकते थे, कि वास्तविक बात क्या है। जिसने हत्या की हो वह तो पुलिस-कर्मचारी को देख कर काँप जाता है और उसका मुँह पीला पड़ जाता है। परन्तु यहाँ यह हँस रहा है।

क्या पाप को भी हँसने की शक्ति मिल गई, सोच कर बोले—मिस्टर प्रभुदत्त ! बात क्या है ?

प्रभुदत्त ने हँसते हँसते सारी कहानी सुना दी। कहा—यह केवल कहानी-मात्र थी। इसमें रत्ती भर सचाई नहीं। यदि विश्वास न हो तो अपनी स्त्री बुला कर आपको दिखा दूँ। मुझे तो केवल अपने मित्रों की परीक्षा करनी थी और वह मैं कर चुका। आपको वृथा कष्ट हुआ, परन्तु यह मेरा नहीं, लाला सिकन्दरलाल का दोप है।

क्लार्क साहब देर तक हँसते रहे, इसके पश्चात् बोले—परन्तु क्या आप समझते हैं कि वह बुड्ढा साईंदास इस आग में कूदने को तैयार हो जायगा ?

प्रभुदत्त—मुझे तो विश्वास है, हो जायगा।

क्लार्क साहब—यह भी आपका भोलापन है, कोई आदमी अपना जीवन इतना तुच्छ नहीं समझता।

प्रभुदत्त—परन्तु वह आदमी नहीं है।

क्लार्क साहब—तो तुम उसे क्या समझते हो ?

प्रभुदत्त—देवता।

क्लार्क साहब—कैसी पागलों की सी बातें करते हो ?

प्रभुदत्त—परीक्षा करलो, तुम भी पागल हो जाओगे।

क्लार्क साहब बाहर निकले। वहाँ कुछ सिपाही खड़े थे। उन्होंने उनमें से एक को बुलाकर लाला साईंदास के मकान का पता बताया और कहा—जल्दी बुला लाओ। परन्तु यह समाचार वहाँ पुलिस के सिपाहियों से पहले पहुँच गया था और साईंदास अपने आप ही आरहे थे। उनको पता था कि मृत्यु के मुख में जा रहा हूँ, परन्तु न उनके मुख पर उदासी थी, न आँखों में भय, वरन् मुख-मण्डल पर अभिमान की लालिमा थी। सोचते थे, मैं बुड्ढा हूँ, और कितने वर्ष जीऊँगा। परन्तु प्रभुदत्त अभी नवयुवक है, उसने संसार देखा ही क्या है और फिर मित्र का पुत्र है। उसे न बचाया तो जीने पर धिक्कार है।

यह सोचते सोचते वे चिक उठाकर कमरे के अन्दर चले आये और क्लार्क साहब से बोले—यह खून मैंने किया है। प्रभुदत्त का मुख-मण्डल विजय के हर्ष से चमकने लगा, परन्तु क्लार्क साहब ने कड़क कर कहा—तुम इकबाल करटा है ?

"हाँ साहब, इकबाल करता हूँ।"

"जानता है, इसका सज़ा क्या है ?"

"हाँ साहब, सब कुछ जानता हूँ, बच्चा नहीं हूँ।"

"फाँसी का सज़ा होगा।"

"मामूली बात है।"

क्लार्क साहब अब उसे एक ओर ले गये और धीरे से बोले—हम जानटा है, टुमने खून नहीं किया। टुम अपना लाईफ़ क्यों डेटा है?

"नहीं साहब, मैंने खून किया है।"

"अभी टाईम है, इनकार कर दो। फिर बाट हमारे हाथ से निकल जायगा।"

"साहब, यह कभी न होगा। जब खून मैंने किया है तब इनकार कैसे कर दूँ। मुझे भी अपने भगवान् को मुँह दिखाना है। आप मुझे गिरफ्तार करलें।"

क्लार्क साहब ने टोपी उतार कर लाला साईंदास को सलाम किया और प्रभुदत्त से कहा—वेल, हमको हार हुआ। यह सचमुच आदमी नहीं एँजल के माफ़क है।

यह कह कर साहब बहादुर ने सब से हाथ मिलाया और बाहर निकल गये, परन्तु लाला साईंदास चकित थे।

पण्डित कौशल्यादास ने आगे बढ़कर उनको गले से लगा लिया और कहा—तुमने मेरी लाज रख ली है।

प्रभुदत्त की आँखों से आँसू बह निकले।

(८)

आज न पण्डित कौशल्यादास जीते हैं, न लाला साईंदास। परन्तु प्रभुदत्त अभी जीवित हैं। अब उनकी प्रैक्टिस बहुत चमक गई है। उनकी गिनती उच्च कोटि के बैरिस्टरों में होने लगी है। अब वे नगर से बाहर कोठी में रहते हैं। उनके पास दो-तीन मोटरें हैं। मगर न मित्रों को दावतें देते हैं, न उनकी दावतें स्वीकार करते हैं। रुपया-पैसा, बाल-बच्चे सब कुछ हैं। उन्हें किसी वस्तु की कमी नहीं। पर हाँ, कभी कभी बैठे बैठे ठण्डी साँस भरने लगते हैं। उन्हें लाला साईंदास जैसा मित्र नहीं मिला। आयु बहुत होगई है, परन्तु खोज जारी है।

———

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

श्री चतुरसेन शास्त्री हिन्दी के उन इने गिने लेखकों में से है जो कला का ध्यान रख कर लिखा करते है। आप आजकल दिल्ली में रहते है। आपकी कहानियाँ बहुत ही व्यक्त और चुटीली होती है। कहानियों मे शब्दों का संगठन बेजोड़ होता है, जिन पर भाव स्वयं छलकते हुए से दिखाई देते है। प्रवाह तीखा और मार्मिक होता है। इनकी कला स्पष्ट और अभिधात्मक है। कहानियों के पात्र प्रायः सभ्य, आकर्षक और दुनियादार होते है। जहाँ प्रेमचन्द जैसे कलाकारों का झुकाव वस्तुस्थिति, मानसिक परीक्षण और ग्रामीण चित्रो का तात्विक विश्लेषण है, वहाँ श्री चतुरसेन 'रोमान्स' के चित्रण में प्रवीण है। पुरानी ऐतिहासिक घटनाओं को टूटे-फूटे, पृथ्वी के नीचे दबे खण्डहरों से निकाल कर उन मे जान डाल देने में चतुरसेन जी की शक्ति अद्भुत है। एक स्थान पर इन्होंने स्वयं कहा है कि "मै अपनी कहानी के साथ बहुत काल तक रहता हूँ, मै उसमें डूबता हूं, उसे छिन्न भिन्न कर डालता हूं, फिर उसे रस्सी की भांति उमेठ डालता हूं। इसके बाद उसे रुई की भांति धुनता हूं, कहानी के साथ अपने हृदय और मस्तिष्क की भी मैं यहां गति बनाता हूं, फिर तो कहानी और मै एकप्राण हो जाते है। तब मै उसके साथ रोता, हँसता, गाता और नाचता हूँ।"

इसके आगे एक जगह कहते हैं—"कभी २ मुझे एक एक कहानी लिखने मे एक वर्ष लग गया है।"

चन्द्रसेन

भग्न

(१)

इलाहाबाद में एक बहुत ही ज़रूरी केस था, इसके लिए मैं लखनऊ से इलाहाबाद आया। सर्दी के दिन थे, खूब कड़ाके की सर्दी थी। मैं गाड़ी में कम्बल लपेटे चुपचाप पड़ा था। ज्यों ही गाड़ी प्रयाग स्टेशन पर रुकी, एक लकड़ी के समान सूखा और सफ़ेद हाथ आगे बढ़ा, उसमें गीता की एक छोटी सी पोथी थी। एक कम्पित करुणापूर्ण वाक्य कान में पड़ा 'श्रीमन्, क्या आप एक पोथी लेने की उदारता दिखावेंगे ? केवल तीन पैसे में। इन पैसों का अच्छे से अच्छा उपयोग होगा, और मुझे आशा है इस छोटी सी पोथी का भी।'

मैंने आँख उठा कर देखा, एक जीर्ण-शीर्ण अकाल-पालित खण्डित पुरुष सम्मुख खड़ा था, आँखें कपाल में धँस गई थीं, दाढ़ी और मूंछों के बाल बढ़ कर घिनोने

हो गये थे। गाल पिचक कर मानों जबाड़ों से लग गये थे, चेहरे की हड्डियाँ निकल आई थीं, रंग बिल्कुल मुर्दे के समान था; सिर पर एक मैला ऊनी चिथड़ा लपेटा हुआ था। बदन पर पट्टू का एक पुराना कोट था, जिसमें असंख्य छेद थे और वह कफ़ और गले के स्थानों पर मैल से काँच की भाँति चमक रहा था। उसके पैर नंगे थे। वे धूल से आवृत थे। बड़ी २ बिवाइयां फट रही थीं। धोती के नाम पर एक पुराना मटमैला तहमद बंधा था। क्षण भर में मैंने उस व्यक्ति को सिर से पैर तक देखा, हठात् उसके चेहरे पर जाकर मेरी आँखें रुक गई और दूसरे क्षण ही मैंने उसे पहचान लिया। मैंने आश्चर्य चकित होकर कहा, अरे आप ?

मेरा शब्द सुनते ही वह चौंक पड़ा। हर्ष और उल्लास से उसके मुख पर हज़ारों सिकुड़ने पड़ गई—उसके दांत सब गिर गये थे। उसने उसी पोपले मुख से हर्षा-तिरेक से गद्‌गद् होकर कहा—ओहो, आप हैं !

मैंने लपक कर उसका हाथ दोनों हाथों में लेकर दबाया। पुस्तकं उसके हाथ से छूट पड़ी। आनन्द से उसकी आँखों में आंसू आ गये। उसने कम्पित कण्ठ से

कहा—मित्र कितने दिन में मिले? तीस वर्ष से कम न हुए होंगे। कहो, कैसे हो?

मैं तो बोल ही न सका। मेरा बाल्य-सखा, आनन्द और सौन्दर्य का प्रतिरूप, लाखों की सम्पदा का स्वामी जो अचानक ही घर से चला गया था और जिसे सभी ने मृतक समझ लिया था, आज यहां इस जीर्ण-शीर्ण वेश में कैसे अचानक ही मिल गया?

मैंने कहा—आप इस वेश में?

वह एक विषादपूर्ण हँसी हँसा और सैकेण्ड क्लास की सुखद सीट की ओर इशारा करके कहा—और आप इस वेश में!

मेरे होंठ कांपने लगे। मैं करूँ क्या? तीस वर्ष के बाद जिस मृतक समझे हुए मित्र का ऐसा हठात् दर्शन हुआ, उससे इस अल्पकाल में क्या २ बातें की जायँ?

गाड़ी ने सीटी दी। मैंने व्याकुल होकर और भी ज़ोर से उसका हाथ पकड़ लिया। वह मुस्कराया—उसने कुछ आतुर स्वर से कहा—गाड़ी जा रही है। आप कहाँ जा रहे हैं?

"मैं शायद इलाहाबाद में कुछ दिन ठहरूँ, आप कहाँ ठहरे हैं?" उसने पता बता दिया। गाड़ी चल दी। धीरे

धीरे उसका हाथ छूट गया। वह प्लेटफ़ार्म पर खड़ा तब तक चुपचाप देखता रहा जब तक कि गाड़ी आँखों से ओझल न हो गई।

(२)

केस बहुत सीरियस था—मुझे १५—२० दिन इलाहाबाद रुकना पड़ा। दूसरे ही दिन मैंने पर्चा देकर नौकर को भेजा। नौकर से परचा लेकर उसने कुछ भी जवाब नहीं दिया। वह नहीं आया। नौकर वापस लौट आया। दूसरे दिन फिर नौकर भेजा। सब सन्देश सुनकर उसने जवाब दिया——अच्छा। पर वह नहीं आया। दो दिन के बाद मैंने गाड़ी भेजी और कह दिया साथ लिवा लाना। उसने 'अभी नहीं' कह कर गाड़ी लौटा दी। अगले दिन मैंने अपने पुत्र को गाड़ी देकर भेजा और कड़ी हिदायत कर दी कि साथ ही ले आना। मगर वह भी लौट आया, वह साथ नहीं आया।

विवश एक संध्या को मैं स्वयं ही उसके स्थान पर पहुँचा। वह एक चटाई पर बैठा, दिये के धुँधले प्रकाश में अपना कोई फटा वस्त्र सी रहा था। देखते ही हर्षातिरेक से चिल्ला उठा—ओओ मित्र! यह कह वह मुझ से लिपट गया। स्वस्थ होकर बैठने पर भी उसने अपनी कैफ़ियत

न दी। मैं मन ही मन क्रुद्ध हो रहा था। इस न आने का क्या मतलब है? क्या घमण्ड? परन्तु इस अटपटे प्रेम को देखकर वह भाव ही नष्ट हो गया।

मैंने कहा—आपको मैंने कई बार बुलाया। आप क्यों नहीं आये?

उसने हँस कर कहा—मित्र! उस दिन रेल में मैंने आपको जी भरकर देख लिया था। मैं समझ गया कि आपका जीवन सुखी और सफल है, और आपने भी मुझे देख ही लिया कि मैं जैसा हूँ, वैसा हूँ। अब और मिल कर क्या होता? आप मेरी चिन्ता करें, इसका समय ही नहीं रहा। इसलिये मिलना मैंने आवश्यक नहीं समझा। आप इससे नाराज़ न हों।

मैं कुछ उत्तर ही न दे सका। एक बार चारों तरफ़ उस अंधेरी और घृणित कोठरी में मैंने दृष्टि डाली। उसने नम्रता से कहा—यहां बैठने में कष्ट हो तो चलो बाहर चल बैठें।

मैंने कहा, नहीं मित्र, यहां बैठने में कष्ट नहीं है। पर आपको इस वेश में और इस स्थान में देखने में कष्ट होता है। आप यहां कब से रहते हैं?

"इक्कीस बरस से।

"इसी नरक कुण्ड में?"

"हां" सा संक्षिप्त उत्तर देकर वह मुस्कराता हुआ मेरी ओर देखता रहा। कुछ ठहर कर उसने कहा—क्या आप ने कोई कोठी ओठी बनवा ली है?

मैं लज्जित हुआ। और केवल सिर हिला कर ही स्वीकृति दी। उसने फिर बच्चों का, उनकी शिक्षा का, आय और व्यय का, ग़रज़ दुनिया भर का हाल पूछ डाला। सब के बाद उसने हंस कर कहा—मैंने तो पहले ही समझ लिया था कि आपका जीवन सुखी और सफल है। कहो, मेरा अनुमान क्या ग़लत था?

मैंने उसकी बात का जवाब न देकर कहा—मगर आपने अपनी यह क्या दुर्दशा बनाई है?

उसने अत्यन्त प्रेम और आग्रह से मेरा हाथ पकड़ कर धीमे परन्तु विश्वस्त स्वर में कहा—मित्र! यह सब तुम्हारे ही कारण तो। उसने मुस्करा दिया।

"मेरे कारण?"

"हां"

"यह क्या कहते हो?"

"कहलाते हो, तभी कहता हूं। मैं तो चाहता था, न

कहूं। अब न कहूंगा। वह फिर हंसा।

परन्तु मैंने देखा कि वेदना उसकी आंखों में झलक रही है। उसका पीला चेहरा और भी सफ़ेद पड़ गया है। चेहरा जैसे कांपने लगा हो। वह हास्य कुछ भयानक सा दीखने लगा। मैंने कहा—मित्र, सब खोल कर कहो। असल बात क्या है? मैं कहां तक आपकी इस दुर्दशा का कारण हो सकता हूं? यदि यही बात है तो मैं इसका प्रतिकार करूंगा।

"अच्छी बात है।" उसने व्यंग के स्वर में कहा। फिर स्नेह से मेरा हाथ पकड़ लिया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इसका हृदय रुदन कर रहा है। मैंने कहा—कहिये।

"कहता हूं, पर मेरे परम प्यारे मित्र, मुझ से नाराज़ न होना। न मन में कुछ दुर्भाव ही पैदा करना। मैं अपाहिज बूढ़ा आदमी तुम्हारे कोप और प्रेम दोनों का ही भाजन होने योग्य नहीं। मैं केवल दया और क्षमा का ही पात्र हूं।"

मैं चुपचाप सुनता रहा। मैं समझ ही न सका कि यह क्या कहना चाहता है?

उसने हठात् कहा—क्या विमला ने कभी मेरा ज़िक्र आपसे किया है ?

"कभी नहीं।"

वह यह सुन कर अप्रतिभ हुआ।

"कभी किसी प्रकार की चर्चा जिसमें मेरा उल्लेख हो ?"

"नहीं" मेरे हृदय में उत्तेजना होने लगी। और मैंने तीखी दृष्टि से उसे घूर कर देखा।

उसके चेहरे पर से मुस्कराहट उड़ गई, मानो वह कुछ कहना चाहता था, पर कह न सका।

मैंने कहा—कहिये।

"मित्र, मुझे कुछ सन्देह था। वह मिट गया।"

मैंने कहा—ख़ैर, अपनी बात तो कहिये।

"कहता हूँ। मैं विमला से व्याह करना चाहता था। और उसको सदा अपने प्राणों और जीवन से भी अधिक चाहता था। जब उसके पिता ने मुझ से उसका विवाह पक्का कर दिया, तब मेरे आनन्द का ठिकाना न रहा। मैंने समझा मेरा जीवन धन्य हुआ। पर विवाह के कुछ ही पूर्व मैंने विमला से साक्षात् किया और पूछा कि विमला वह दिन कैसा सुखकर होगा कि हम दोनों संयुक्त होंगे। यह सुनकर वह रोने लगी। उसके पूर्व वह मेरे सामने

सदा हँसती थी, मेरे उपहार सानन्द ग्रहण करती थी। इस बार उसका रोना सुनकर मुझे दुःख और आश्चर्य हुआ। मैंने उसका हाथ पकड़ कर कहा, रोती क्यों हो, ऐसा कौन सा दुख है? आह, उसके जवाब में उसने जो कुछ कहा उसे न कहना ही अच्छा है। उसी ने मेरी यह दशा बनाई। उस दिन मैंने जाना कि वह मुझ से नहीं तुमसे विवाह करना चाहती है। वह मेरी जगह तुमसे विवाह करके सुखी होगी। विमला को दुःखी करना मुझे अभीष्ट न था। मैं चुपचाप वहां से अज्ञातवास को चला आया। विमला का विवाह फिर तुम्हारे साथ हो गया। मुझे विमला से प्रेम है। मेरे इस प्रेम में जहां और जिस भांति रहने में बाधा न पड़े वहीं उसी भांति रह रहा हूँ। मेरा प्रेम न विमला को दुःख देता है न आपको।"

उसके होंठ कांपे और टपाटप गर्म गर्म आंसू उसकी आंखों से गिर पड़े। मेरे हृदय में चोट लगी। मैंने कहा, उसे फिर देखने नहीं गये?

"एक बार गया था। जब प्रतिमा का जन्म हुआ था। प्रतिमा को देखने की बड़ी लालसा थी। मैं आपके घर गया भी, परन्तु आपसे याचना न कर सका। चोरी से देखना मैंने चाहा नहीं। मैं चला आया।"

"आपकी सम्पत्ति क्या हुई ? क्या वह सब नष्ट हो गई ?"

"नहीं मित्र, जब मैं प्रतिमा को देखने गया था, तभी मैंने अपनी सब सम्पत्ति को बेच कर रुपया इकट्ठा कर लिया था।"

"वह रुपया कहां है ?"

"सब बेच बाच कर ८५ हज़ार रुपया हुआ था। वह इम्पीरियल बैंक में जमा है। मैं प्रतिवर्ष पुस्तकें बेच कर कुछ न कुछ जमा करता रहा हूं। उसका सूद भी जमा हो गया है। कुल सवा लाख की रक़म है। यह सब प्रतिमा का है। उसके विवाह पर देने को मैंने रख छोड़ा है। मैं प्रतिवर्ष उसके विवाह का समाचार मंगाता हूं। ठीक समय पर मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप मुझे प्रतिमा को यह दान देने दें। आशा है आप मुझे इस सुख से वञ्चित न करेंगे।" उसने हंसना चाहा, पर वह फूट-फूट कर रो पड़ा। वह मेरे पैरों पर लोट गया।

मैं अजीब हालत में था। मैंने कहा—आप अद्भुत व्यक्ति हैं। इतना धन रहते हुए आप इस भांति रहते हैं ?

"वह धन तो मेरी प्रतिमा का है। बेटी का धन क्या मैं खा सकता हूं ?"

"भोजन की क्या व्यवस्था है ?"

"मैं तीन पैसे का सत्तू लाता हूं और आधा आधा दोनों समय थोड़ा नमक मिला पानी में घोल कर पी लेता हूं।"

"क्या २१ वर्षों में यही आपका भोजन रहा है ?"

"केवल यही। मैं अभागा अपने शरीर पर ३ पैसे से अधिक ख़र्च कर ही नहीं सकता।"

"कभी कोई फल वल ?"

"गतवर्ष मैंने एक अमरूद खाया था, मेरे एक मित्र ने दिया था।"

"वस्त्र ?"

"ये मेरे वही पुराने वस्त्र हैं। जीवन भर को काफ़ी हैं।"

वह हंसने लगा, मेरी आंखें भर आईं और मैं उस अद्भुत व्यक्ति का आलिङ्गन करके खूब रोया।

मेरे रोने का एक कारण था, हाय ! कैसी लज्जा और कायरता की बात है, उसे अपने मुंह से कैसे कहूं।

उसने कम्पित स्वर में कहा—मित्र ! नाराज़ न हो तो एक बात पूछूं ?

मैं भयभीत हो गया। क्या वही बात ? मेरे होंठ

कांपने लगे। मैं यह न कह सका कि पूछो। परन्तु उसने पूछ ही लिया।

"विमला कैसी है? आप उससे कभी लड़ते तो नहीं हैं?"

मैं उत्तर क्या देता! मेरा सारा शरीर कांपने लगा। मेरी चेष्टा से उसका रंग फक हो गया। उसने लपक कर मेरा हाथ पकड़ लिया और पूछा—कहो प्यारे मित्र, विमला प्रसन्न तो है?

मैंने अन्यत्र देखते हुए कहा—वह इस लोक में नहीं है। उसे स्वर्गवास हुए १० वर्ष हो गये।

"क्या कहा? दस वर्ष?" वह पागल की भांति आंखें फाड़-फाड़ कर देखने लगा। मैं अपराधी की भांति दृष्टि नीचे किये बैठा रहा। कुछ देर सन्नाटा रहा, फिर मानों विषाद के सागर में एक गहरी डुबकी लगाकर उसने कहा—मित्र, तुम्हारा धीरज धन्य है। इतनी आसानी से उसके अभाव को सह गये। यह शब्द न कहकर यदि वह मेरे ऊपर प्रहार करता तो अच्छा था। मैंने उसकी ओर देखकर कहा—मुझे आप कायर और पतित कह सकते हैं।

वह कुछ नहीं बोला। उसने तनिक कठोर दृष्टि से मेरी ओर देखा। मैंने स्थिर स्वर में कहा—मैंने दूसरा

विवाह कर लिया है और मैं शायद उसे भूल गया हूँ। मेरे होंठ कांपने लगे। वह कुछ नहीं बोला, परन्तु वह बड़ी देर तक मेरी ओर बिना हिले डुले देखता रहा। मेरी दृष्टि पृथ्वी पर गड़ गई। उसने कहा, अब आप जाइये। बहुत समय हो गया है।

मैं उठ खड़ा हुआ। वह गाड़ी तक पहुंचाने आया—मैंने कहा, कल अवश्य ही मेरे डेरे पर आइये।

उसने रूखे स्वर में कहा—आऊँगा। वह लौट गया। मैं भी गाड़ी में बैठ कलेजे पर बोझा ले स्थान पर आया।

(३)

दूसरे दिन वह आया। वही वेश था, तिस पर एक रजाई, एक लुटिया, एक पोटली सत्तू, एक जल भरने की रस्सी, एक गांठ में कुछ पुस्तकें। यह सब कंधे पर लदी थीं। वह चुपचाप सम्मुख खड़ा होगया। मैंने सादर उसकी अभ्यर्थना की। उसने उसकी तनिक भी परवा न कर कहा—वहां आने से मेरे पैरों से आपका फ़र्श ख़राब हो जायगा। मैं कुछ देर यहां बैठ कर बातें कर लूंगा। वह बिना ही उत्तर की प्रतीक्षा किये फ़र्श से दूर ज़मीन पर बैठ गया। मैंने उसके लिए फल और जलपान की कुछ सामग्री मंगवा रक्खी थी। बहुत कहने पर भी उसने

उसे न छुआ। भोजन का निमन्त्रण भी उसने हंस कर टाल दिया। अपने सत्तू की पोटली दिखा कर कहा—मेरा भोजन सदैव मेरे साथ रहता है।

इसके बाद उसने एक कागज़ मेरे हाथ में देकर कहा—यही प्रतिमा के नाम मेरा दान-पत्र है। इसकी बाक़ायदा रजिस्ट्री कराई गई है। कृपा करके उसके विवाह के शुभ अवसर पर उसे दे दें, मैं अब उसके सम्मुख नहीं जाऊंगा। इसके बाद कुछ ठहर कर उसने कम्पित कण्ठ से कहा—मित्र, बिना माता की उस निरीह बालिका के लिये अपनी नवीन पत्नी से कुछ स्नेह सदा ही बचाये रहना और उसके लिये बहुत ही सावधानी से वर खोजना।

मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा था। क्या कहूँ ? समझ ही नहीं पड़ता था। ग्लानि और लज्जा के मारे प्राण निकले जाते थे। चित्त स्थिर होने पर देखा—वह चला गया है, वहां नहीं है।

संध्या समय मैं फिर उसके उस स्थान पर गया। वह वहां नहीं था। उसका सामान भी नहीं था। एक निकट-वर्ती पुरुष ने कहा—वे अब दूर देश की यात्रा को चले गये हैं। कह गये हैं, अब लौट कर न आवेंगे।

बावर्चिन

(१)

सन् १८४५ की २८ वीं मई के तीसरे पहर एक पालकी चाँदनी चौक में होकर लाल क़िले की ओर जा रही थी। पालकी बहुमूल्य कमख़्वाब और ज़री के पर्दों से ढँकी हुई थी। आठ कहार उसे कन्धों पर उठाये थे और १६ तातारी बाँदियाँ नङ्गी तलवारें लिए उसके गिर्द चल रही थीं। उनके पीछे ४० सवारों का एक दस्ता था, जिसका अफ़सर एक कुम्मेत अरबी घोड़े पर सवार था। उसकी ज़रबफ़्त की बहुमूल्य पोशाक पर कमर में नाजुक तलवार लटक रही थी, जिसकी मूँठ पर गङ्गाजमुनी काम हो रहा था। उसकी काली घनी डाढ़ी के बीच, अङ्गारे की तरह दहकते चेहरे में मशाल की तरह जलती हुई आँखें चमक रही थीं, जिन्हें वह चारों तरफ़ घुमाता हुआ, अकड़ कर किन्तु खूब सावधानी से पालकी के पीछे-पीछे जा रहा था।

भयानक गर्मी से दिल्ली तप रही थी। तब चाँदनी चौक की सड़कें आज की-सी तारकोल बिछी हुई आईने की तरह चमचमाती न थीं, न मोटरों की घोंघों-पोंपों और सर्राटेबन्द दौड़ थी। चाँदनी चौक की सड़कों पर काफ़ी गर्द-गुब्बार रहता था। हाथी, घोड़े, पालकी और नागौरी बैलों की जोड़ी से ठुमकती हुई बहलियाँ एक अजब बाँकी अदा से उछला करती थीं।

अब जिस स्थान पर घण्टाघर है, वहाँ तब एक बड़ा सा हौज़ था, जो चाँदनी चौक की नहर से मिल गया था; और जहाँ कम्पनी बाग और कमेटी की लाल सङ्गीन इमारत खड़ी है, वहाँ एक बड़ी भारी किन्तु ख़स्ता-हाल सराय थी, जिसकी बुर्जियाँ टूट गई थीं और जहाँ अनगिनती खच्चर, टट्टू, बैलगाड़ियाँ, घोड़े और परदेसी बेतरतीबी से पेड़ों के नीचे या बेमरम्मत कोठरियों में भरे हुए थे।

जिस समय पालकी वहाँ से गुज़र रही थी, उस समय हौज़ पर ख़ासा धोबी-घाट लगा हुआ था। कोई नहा रहा था, कोई साबुन से कपड़े धो रहा था। सराय के टूटे किन्तु सङ्गीन फाटक पर देशी-विदेशी आदमियों का जमघट लगा था!

पालकी अवश्य ही कहीं दूर से आ रही थी। कहार लोग पसीने से लथपथ हो रहे थे, उनका दम फूल रहा था और वे लड़खड़ा रहे थे। पीछे से अफ़सर तेज़ चलने की ताक़ीद कर रहा था, मगर ऐसा मालूम होता था कि अब और तेज़ चलना असम्भव है।

कहारों में एक बूढ़ा कहार था, उसका हाल बहुत ही बुरा हो रहा था। कुछ क़दम और चल कर वह ठोकर खाकर गिर पड़ा, पालकी रुक गई।

तातारी बाँदियाँ झिझक कर खड़ी हो गईं। अफ़सर ने घोड़ा बढ़ाया। बूढ़ा अभी सम्हला न था। एक चाबुक सपाक से उसकी गर्दन और कनपटी की चमड़ी उधेड़ गया। साथ ही बिजली की कड़क की तरह उसके कान में शब्द पड़े—उठ, उठ, ओ दोज़ख़ के कुत्ते! देर हो रही है।

कहार ने उठने की चेष्टा की, पर उठ न सका। वह गिर गया। गिरते ही दस-बीस, पच्चीस-पचास चाबुक तड़ातड़ पड़े, खून का फ़व्वारा छूटा और कहार का जीवन-प्रदीप बुझ गया!!

लाश को पैर की ठोकर से ढकेल कर अफ़सर ने खूनी आँखें भीड़ पर दौड़ाईं। एक गठीला गौरवर्ण युवक मैले

और फटे वस्त्र पहने भीड़ में सब से आगे खड़ा था। मुश्किल से रेखें भीगी होंगी। अफ़सर ने डपट कर उसे पालकी उठाने का हुक्म दिया। युवक आगे बढ़ा। दूसरे ही क्षण सपाक से एक चाबुक उसकी पीठ पर पड़ा और साथ ही ये शब्द—साला, जल्दी!

युवक ने क्रुद्ध स्वर में कहा—जनाब! हुक्म बजा लाता हूँ, मगर ज़बान सम्हाल......

दस-बीस चाबुक खाकर युवक वहीं तड़प कर गिर गया। उसकी नाक और मुँह से खून का फ़व्वारा बह चला। अफ़सर ने और एक आदमी को कन्धा लगाने का हुक्म दिया। क्षण भर में पालकी फिर अपनी राह लगी।

(२)

चिराग़ जल चुके थे। दीवाने ख़ास में हज़ारों फ़ानूस की तमाम काफ़ूरी मोमबत्तियाँ जल रही थीं। जमुना की लहरों से धुल कर पूर्वी हवा झरोखों से छन-छन कर आ रही थी। ख़ास-ख़ास दरबारी बादशाह सलामत के तशरीफ़ लाने की इन्तज़ारी में अदब से खड़े थे। सामने एक चौकी पर वही युवक लहूलुहान पड़ा था। अन्तःपुर के झरोखों से परिचारिकाओं के कण्ठ-स्वर ने कहा—"होशियार, अदब क़ायदा निगहदार!" यह शब्दस्वर

चोबदारों ने दुहराया—"होशियार, अदब क़ायदा निगह-दार !" उमराव-मण्डल और मन्त्रि-मण्डल ज़मीन तक सिर झुकाकर खड़ा होगया। सम्पूर्ण दरबार में निस्तब्धता छा गई। धीरे-धीरे वृद्ध सम्राट् बहादुरशाह दो सुन्दरियों के कन्धों का सहारा लिए भीतर ड्योढ़ी से निकल कर सिंहासन पर आ बैठे। चार बाँदियाँ मोरछल लेकर बग़ल में आ खड़ी हुईं। चोबदार ने पुकारा—"ज़ल्ले इलाही बरामद कर्द मुजरा अदब से !"

यह सुनते ही एक उमराव सहमा हुआ अपने स्थान से आगे बढ़ा और सम्राट् के सामने जाकर उसने तीन बार झुक कर सलाम किया। चोबदार ने उसके रुतबे और शान के अनुसार कुछ शब्द कहकर सम्राट् का ध्यान उधर आकर्षित किया। इसी प्रकार सभी सरदारों ने प्रणाम किया।

इसके बाद बादशाह ने वज़ीर को सङ्केत किया। वज़ीर ने जवान से कहा—जवान! तुम्हारे हालात बाद-शाह सलामत अगर्चे सुन चुके हैं, मगर तुम्हारी ख़ास ज़बान से सुनना चाहते हैं। तमाम हालात मुफ़स्सिल में बयान करो।

युवक ने ज़मीन में लोट-लोट कर सब मामला बयान

किया। बादशाह ने फ़र्माया—सब हरूफ़-बहरूफ़ सही है। कहाँ है वह ज़ालिम ज़मीर ?

वही खूँख्वार अफ़सर ज़मीर तख़्त के सामने आकर घुटनों के बल गिर गया।

बादशाह ने फ़र्माया—ज़मीर ! तुझे कुछ कहना है ?

"खुदावन्द ! रहम ! रहम !"

बादशाह ने हुक्म दिया—इस ज़ालिम को सीधा खड़ा करो। मगर ठहरो, मैं इस पर भी रहम किया चाहता हूँ। इसे नौकरी से बरख़ास्त किया जाता है और इसका दर्जा इस नौजवान को अता किया जाता है। इसकी तमाम जायदाद ज़ब्त की जाती है और वह उस कहार के घर-वालों को बख़्श दी जाती है।

हुक्म देकर बादशाह उठे। तुरन्त चार बाँदियों ने सहारा दिया। दरबारी लोग ज़मीन तक झुक गए। बादशाह ने युवक के निकट आकर कहा—आराम होने तक शाही महलों में रहने की तुम्हें इजाज़त बख़्शी जाती है और शाही हकीम तुम्हारे मालजे को मुक़र्रर किए जाते हैं।

युवक ने बादशाह की क़दमबोसी की और पल्ला चूमा। बादशाह धीरे-धीरे अन्तःपुर में प्रवेश कर गए।

(३)

अन्तःपुर के उन झरोखों के भीतर, जहाँ किसी भी मर्द की परछाईं पहुँचनी सम्भव न थी, एक बहुमूल्य मखमली गद्दे पर वह घायल युवक पड़ा अपने प्रारब्ध-विकास की बात सोच रहा था। एक ही दुखदाई घटना ने, जिसे शायद ही कोई निमन्त्रित करे, उसके भाग्य का पाँसा पलट दिया था। वह सोच रहा था, क्या सचमुच मेरे ये फटे चिथड़े, वह टूटे छप्पर का घर, वह माता का चक्की पीसना, सभी बदल जायगा। वह जागते ही जागते स्वप्न देखने लगा—एक धवल अट्टालिका, दास-दासी, घोड़े-हाथी, सेना और न जाने क्या-क्या ?

सभी विचार-धाराओं के ऊपर उसे एक नवीन विचार-धारा मूर्च्छित कर रही थी—वह कौन है ? वही क्या इस सब भाग्य-परिवर्तन की कुञ्जी नहीं ? पालकी के उस दुर्भेद्य पर्दे के भीतर········ ! वह सोच में मूर्च्छित हो गया।

हठात् उसकी विचार-धारा को धक्का देते हुए कक्ष का पर्दा हटा कर दो दासियों के साथ एक खोजे ने प्रवेश किया। दासियों के हाथ में भोजन की सामग्री थी। स्वप्न-सुख की तरह कहीं वह राजभोग लुप्त न हो जाय, घायल

युवक इस भय से लपक कर उठा। खोजे ने कहा—खाना खा लो, और खुदा का शुक्र करो। हुजूर शाहज़ादी तुम पर बहुत खुश हैं और वे जल्द तुम्हें देखने को तशरीफ़ लाने वाली हैं।

चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना की तरह शाहज़ादी ने कक्ष में प्रवेश किया। दो अल्प-वयस्का दासियाँ परछाईं की तरह उनके पीछे थीं। शुभ्र, महीन रेशमी परिधान पर ज़रदोज़ी और सलमे का बारीक काम निहायत फ़साहत से हो रहा था। वह अस्फुटित कुन्दकली के समान, कोमलता और माधुर्य की मूर्त्तिमती रेखा के समान समस्त भारत के सम्राट् की पौत्री शाहज़ादी गुलबानू थी।

केवल क्षणभर ही वह युवक उस अति दुर्लभ मुख की ओर देखने का साहस कर सका। उसने उठने की चेष्टा की, परन्तु मानो उसके शरीर का सत निकल गया था। वह गिर पड़ा, गिरे ही गिरे उसने ज़रा बढ़कर अपना मस्तक शाहज़ादी के क़दमों पर रख दिया। शाहज़ादी के जूतों में लगे हीरे युवक के मस्तक पर मुकुट की तरह दिप उठे।

शाहज़ादी ने मानो फूल बखेर दिए। उसने कहा—

कल के हादिसे का मुझे बहुत रञ्ज है, पर मैं समझती हूँ, अब तुम बहुत अच्छे हो। मैंने पालकी से तमाम माजरा देखा था, मगर कर क्या सकती थी ? मैंने दादाजान से आते ही शिकायत कर दी थी।

युवक ने ज़रा ऊँचा उठकर शाहज़ादी का आँचल आँखों से लगाया, और बारम्बार ज़मीन चूमकर कहा—हुजूर, खुदावन्द शाहज़ादी, कल अगर हुजूर की पालकी की ख़ाक न नसीब होती तो आज यह दिन कहाँ ? जहाँ-पनाह ने इस नाचीज़ गुलाम को निहाल कर दिया है। ताबेदार ताउम्र इन क़दमों का नमकहलाल रहेगा।

शाहज़ादी कुछ न कहकर धीरे-धीरे चली गई।

(४)

१२ साल बीत गए। सन् ५७ की २४ वीं मई थी। ग़दर की आग धू-धू करके जल रही थी। चिनगारियाँ आसमान को छू चुकी थीं। निकल्सन ने दिल्ली पर घेरा डाल रक्खा था। भाग्य की रेखा के बल पर बूढ़े और लाचार बादशाह बहादुरशाह ने बाग़ियों का साथ दिया था। क्षण-क्षण में बाग़ी हार रहे थे। अङ्गरेज़ी तोपें काशमीरी दरवाज़े पर गरज रही थीं। लाहौरी दरवाज़ा सर हो चुका था। फ़तहपुरी मस्जिद के सामने अङ्गरेज़ी

घुड़सवार और बाग़ियों की लाल होली खेली जा रही थी। लाशों के ढेर में से अधमरे सिपाही चिल्ला रहे थे। अङ्गरेज़ बराबर बढ़ते और जो मिलता उसे सङ्गीनों से छेदते चले आ रहे थे। करनल वाट्सन के हाथ में कमान थी। इनके साथ थे एक सम्भ्रान्त मुसलमान अमीर—जनाब इलाहीबख्श। वे एक अरबी नफ़ीस घोड़े पर पान चबाते इतराते बढ़ रहे थे, लोग देख-देखकर भयभीत होकर घरों में छिप रहे थे।

यह इलाहीबख्श वही घायल युवक थे, जो अपनी जवाँमर्दी और चतुराई से १० वर्ष में बादशाह के अमीर और नगर के प्रतिष्ठित तथा प्रभावशाली व्यक्ति वन गए थे। अङ्गरेज़ों ने दमदार मुग़लों को जहाँ तोपों और सङ्गीनों की नाक से वश में किया था, वहाँ कुछ नमक-हराम, सङ्गदिल लोगों को अपनी भेद-नीति और सोने के टुकड़ों से वश में कर लिया था। इलाहीबख्श भी उनमें से एक थे। १० वर्ष पहले शाहज़ादी के क़दमों पर गिर कर नमकहलाली की जो बात उन्होंने कही थी, वह अब उन्होंने दरगुज़र कर दी थी। वे अब अङ्गरेज़ों के भेदिए थे।

दोनों व्यक्ति सराय के सामने जाकर ठहर गए। हौज़

के पास, जहाँ अब घण्टाघर है, बराबर-बराबर फाँसियाँ गड़ी थीं और क्षण-क्षण में चारों तरफ़ गली-कूचों से आदमी पकड़े जाकर फाँसी पर चढ़ाए जा रहे थे। कुछ ख़ास क़ैदी इनकी प्रतीक्षा में बँधे बैठे थे। हडसन साहब ने सबको खड़ा होने का हुक्म दिया। इलाहीबख़्श ने उनमें से मुग़ल-सरदारों और राज-परिवारवालों की शनाख़्त की; सब फाँसी पर लटका दिए गए। इसके बाद, बादशाह क़िले से भाग गए हैं—यह सुनकर एक फौज की टुकड़ी लेकर दोनों तीर की तरह रवाना हुए।

(५)

बादशाह सलामत जल्दी-जल्दी नमाज़ पढ़ रहे थे। उनके हाथ काँप रहे थे और आँखों से आँसुओं की धार बह रही थी। शाहज़ादी गुलबानू ने आकर कहा—बाबा-जान! यह आप क्या कर रहे हैं?

"बेटी अब और कर ही क्या सकता हूँ? खुदा से दुआ माँगता हूँ, कहता हूँ—ऐ दुनिया के मालिक! मेरी मुश्किल आसान कर; यह तख़्त, तैमूर के खून का तख़्त तो आज गया ही, मेरे बच्चों की जान और आबरू पर रहम बख़्श!"

गुलबानू ने कहा—बाबा! दुश्मन क़िले तक पहुँच

चुके हैं। आपके लिए सवारी तैयार है, भागिए!

बादशाह ने अन्धे की तरह शाहज़ादी का हाथ पकड़ कर कहा—भागूँ कहाँ? हाय! वह घड़ी अब आ ही गई?

इसके बाद उन्होंने अपनी जड़ाऊ सन्दूकची मँगाई, और परिवार के सब लोगों को बुलाकर एक-एक मुट्ठी हीरे सब को देकर कहा—खुदा हाफ़िज़!

क़िले से निकल कर बादशाह सीधे निज़ामुद्दीन गए। उस वक्त उनके मुखमण्डल की आभा उतरी हुई थी। कुछ ख़ास-ख़ास ख़्वाजासरा, कहार और इने-गिने शुभ-चिन्तकों के सिवा कोई साथ न था। चिन्ता और भय से वे रह-रह कर काँप रहे थे। उनकी सफ़ेद डाढ़ी धूल से भर रही थी। बादशाह चुपचाप जाकर सीढ़ियों पर बैठ गये।

गुलामहुसेन चिश्ती सुन कर दौड़े आए। बादशाह उन्हें देखते ही खिलखिला कर हँस पड़े। चिश्ती साहब ने पूछा—ख़ैर तो है?

"ख़ैर ही है, मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था कि ये बदनसीब ग़दरवाले मनमानी करने वाले हैं। इन पर यक़ीन करना बेवक़ूफी है; ये खुद डूबेंगे और हमें भी

डुबावेंगे। वही हुआ, भाग निकले! मुझे तो होनहार दिखाई दे गई थी कि मैं मुग़लों का आख़िरी चिराग़ हूँ। मुग़लों के तख़्त का आख़िरी साँस टूट रहा है, कोई घड़ी भर का महमान है। फिर ख़ून-ख़राबी क्यों करूँ? इसी लिए क़िला छोड़ कर चला आया। मुल्क ख़ुदा का है, जिसे चाहे दे, जिसे चाहे ले। सैंकड़ों साल तक हमारे नाम का सिक्का चला। अब हवा का रुख़ कुछ और ही है। वे हुकूमत करेंगे, ताज पहनेंगे। इसमें अफ़सोस क्यों? हमने भी तो दूसरों को मिटा कर अपना घर बसाया था! हाँ, आज तीन दिन से खाना नसीब नहीं हुआ है। कुछ हो तो ले आओ?"

चिश्ती साहब ने कहा—सिर्फ़ बाजरे की रोटी और सिर्के की चटनी है। हुक्म हो तो हाज़िर करूँ।

"वही ले आओ।"

बादशाह ने शान्तिपूर्वक एक रोटी खा और पानी पीकर कहा—बस, अब हुमायूँ के मक़बरे में चला जाऊँगा, वहाँ जो भाग्य में होगा, वह होगा।

हुमायूँ के मकबरे में हडसन और इलाहीबख़्श ने आकर बादशाह को गिरफ़्तार करके रंगून भेज दिया।

(६)

तीन वर्ष व्यतीत हो गये। दिल्ली में अँगरेज़ी अमल जम कर बैठ गया था। लाल क़िले पर यूनियन जैक फहरा रहा था। फाँसियों की विभीपिकाओं ने नगर और ग्राम की जनता के मन में दहल उत्पन्न कर दी थी। वे दब्बू भेड़ की तरह चुपचाप अँगरेज़ों के विधान को अटल प्रारब्ध की तरह देख और सह रहे थे। इलाहीबख्श के पास बादशाही बख्शीश ही बहुत थी, अब अङ्गरेज़ी जागीरों और मेहरबानियों ने उन्हें आधी दिल्ली का मालिक बना दिया था। सरकारी नीलामों में मुहल्ले के मुहल्ले उन्होंने कौड़ियों में पाए थे। उनकी बड़ी भारी अट्टालिका खड़ी मनुष्य के भाग्य पर हँस रही थी। सन्ध्या का समय था। अपनी हवेली के विशाल प्राङ्गण में तख्त के ऊपर बढ़िया ईरानी क़ालीन पर मसनद के सहारे इलाही-बख्श बैठे अम्बरी तमाखू पी रहे थे। दो-चार मुसाहिब सामने अदब से बैठे जी-हुजूरी कर रहे थे। मियाँ जी को, मालूम होता है, बचपन के दिन भूल गए थे। वे बहुत बढ़िया अतलस के अँगरखे पर कमख़ाब की नीमास्तीन पहने थे!

धीरे-धीरे अन्धकार के पर्दे को चीरती हुई एक मूर्त्ति

अग्रसर हुई। लोगों ने देखा, एक स्त्री-मूर्त्ति मैला और फटा हुआ बुर्क़ा पहने आ रही है। लोगों ने रोका, मगर उसने सुना नहीं। वह चुपचाप मियाँ इलाहीबख़्श के सन्मुख आ खड़ी हुई।

मियाँ ने पूछा—क्या चाहती हो ?

"पनाह"

"कौन हो ?"

"आफ़त की मारी !"

"अकेली हो ?"

"बिलकुल अकेली !"

"कुछ काम करना जानती हो ?"

"बावर्ची का काम सीख लिया है !"

"तनख़ाह क्या लोगी ?"

"एक टुकड़ा रोटी !"

बहुत महीन, दर्द-भरी, कम्पित आवाज़ में इन जवाबों को सुनकर मियाँ इलाहीबख़्श सोच में पड़ गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने नौकर को बुलाकर उस स्त्री को भीतर भिजवा दिया। उस दिन उसी को खाना बनाने का हुक्म हुआ।

मियाँ इलाहीबख़्श दस्तरख़ान पर बैठे थे। दोस्त-अहबाबों का पूरा जमघट था। तब तक दिल्ली में बिजली तारों से नहीं

बाँधी गई थी। सुगन्धित मोमबत्तियाँ शमादानों म जल रही थीं।

खाना खाने से सभी खुश हुए। नई बावर्चिन की तारीफ़ के पुल बाँधने लगे। दोस्तों ने कहा—ज़रा उसे बुलाइए और इनाम दीजिए।

इलाहीबख्श ने बावर्चिन को बुला भेजा। उसने कहा—अपने मालिक से दस्त-बदस्ता अर्ज़ है कि मैं ग़ैर-मर्दों के सामने बेपर्दा नहीं हो सकती। हाँ, आक़ा से पर्दा फ़ज़ूल है। इलाहीबख़्श के मन में प्रतिक्षण बावर्चिन को देखने की बेचैनी बढ़ चली।

सब लोगों के चले जाने पर इलाहीबख़्श स्वयं भीतर गए और बावर्चिन के सामने जा खड़े हुए। बोले—क्या मैं तुम्हारी मुसीबत की दास्तान सुन सकता हूँ? यह तो मैं समझ गया कि तुम शरीफ़ ख़ानदान की दुखियारी हो!

बावर्चिन ने अच्छी तरह अपना बुर्क़ा ओढ़कर कहा—मालिक मेरी कोई दास्तान ही नहीं!

"क्या मुझ से पर्दा रक्खोगी?"

"यह मुमकिन नहीं है!"

"तब?".

"क्या आप मुझे देखना चाहते हैं?"

"ज़रूर, ज़रूर !"

वह मैला और फटा बुर्क़ा चम्पे की समान उँगलियों ने हटा कर नीचे गिरा दिया। एक पीली किन्तु अभूतपूर्व मूर्त्ति सामने दीख पड़ी।

इलाहीबख़्श ने आँखों की धुन्ध हाथों से पोंछ कर, ज़रा आगे बढ़कर कहा—तुम्हें, आपको मैंने कहीं देखा है ?

"जी हाँ मेरे आक़ा ! मेरे दादाजान की मिहरबानी से, लाल क़िले के भीतर, जब आप मेरी डोली में लगाए जाने के लिए चाबुकों से लहू-लुहान किए गए थे, तब यह बदनसीब गुलबानू आपको तसल्ली देने आपकी ख़िदमत में आई थी। उम्मीद थी, मर्द औरत की अमानत—ख़ासकर वह अमानत, जो दुनिया की चीज़ नहीं, जिसके दाम जान और कुर्बानी हैं, सम्हाल कर रक्खेंगे। पर पीछे यह जानने का कोई ज़रिया ही न रहा कि हुजूर ने वह अमानत किस हिफ़ाज़त से कहां छिपा कर रक्खी ? ग़दर में वह रही या मेरे बाबाजान के तख़्त के साथ वह भी गई ?

इलाहीबख़्श का मुँह काला पड़ गया। बदहवासी की हालत में उन के मुँह से निकल पड़ा—आप शाहज़ादी गुलबानू······ ?

गुनलबानू ने शान्त स्वर में कहा—वही हूँ जनाब! मगर डरिएगा नहीं! अगर ग़दर में मेरी अमानत लुट भी गई होगी, तो वह माँगने जनाब की खिदमत में नहीं आई हूँ। अब गुलबानू शाहज़ादी नहीं, हुज़ूर की कनीज़ है—महज़ बावर्चिन है! मेरे आक़ा, क्या बाँदी के हाथ का खाना पसन्द आया? क्या बदनसीब गुलबानू की नौकरी बहाल रह सकेगी?

इलाहीबख़्श बेहोश होने लगे। वे सिर पकड़ कर वहीं बैठ गए गुलबानू ने पंखा लेकर झलते हुए कहा—जनाब के दुश्मनों की तबीयत नासाज़ तो नहीं, क्या किसी को बुलाऊँ?

इलाहीबख़्श ज़मीन पर गिरकर शाहज़ादी का पल्ला चूम कर बोले—शाहज़ादी, माफ़ करना! मैं नमकहराम हूँ।

इलाहीबख़्श भागे। वे चुपचाप घर से निकले। नौकर-चाकर देख रहे थे। उसके बाद किसी ने फिर उन्हें नहीं देखा!

———

हठी हम्मीर

(१)

देलवाड़े के भग्न और नगण्य दुर्ग में ८-१० योधा एक साथ बैठे किसी महत्वपूर्ण विषय पर परामर्श कर रहे थे।

इनमें से एक को छोड़ कर सभी प्रौढ़ पुरुष थे और सभी की घनी काली डाढ़ी, और लाल आँखें एवं गम्भीर कण्ठ ध्वनि यह सूचित कर रही थी कि ये प्रकृत युद्ध के व्यवसायी हैं।

इनमें केवल एक ही व्यक्ति युवक था। वह उज्ज्वल गौर वर्ण, बलिष्ट एवं सुन्दर व्यक्ति था। अभी छोटी-छोटी मूँछें उसके मुख पर सुशोभित नहीं हुई थीं।

यह युवक चित्तौड़ के प्रकृत अधिकारी महाराणा हम्मीरसिंह थे। दिल्लीपति बादशाह के द्वारा चित्तौड़ विजय होकर शाही अधिकार में चला गया था और उस पर

बादशाह की ओर से राव रामदेव क़िलेदार नियत होकर रहते थे।

महाराणा हम्मीर ने इस बीच में बारम्बार आक्रमण करके राव रामदेव और शाही सेना को अति त्रस्त कर रक्खा था। किसी क्षण उन्हें चैन न था। कब हम्मीर की तलवार सिर पर आ गर्जे इसका कुछ ठिकाना न था। आज उसी रामदेव ने हम्मीर के पास कन्या के विवाह का नारियल भेजा है। वह वीर-मण्डली इसी गम्भीर प्रश्न पर विचार कर रही थी।

एक सरदार ने कहा—अन्नदाता, इस सम्बन्ध में बिना भली भांति सोचे विचारे काम करना उचित नहीं है। राव रामदेव नीच प्रकृति का पुरुष है, फिर वह शत्रु है।

दूसरे ने कहा—उसके पास यथेष्ट सेना भी है। और हम इस समय ५०० से अधिक वीर संग्रह कर ही नहीं सकते।

तीसरे ने कहा—जहाँ तक हमें ज्ञान है, राव रामदेव की कोई कन्या कुमारी है ही नहीं। यह नारियल टीका निस्सन्देह छल प्रतीत होता है।

अन्त में सब की बात सुनकर हम्मीरसिंह हँस पड़े।

उन्होंने कहा—सरदारो, आप लोगों ने मुझे हठी तो प्रसिद्ध कर ही रक्खा है, पर अब समझ लीजिये कि मैं रामदेव की कन्या व्याह कर अवश्य लाऊँगा और जैसा कि ठाकरां का कहना है कि उसके कोई कन्या ही व्याह के योग्य नहीं—यदि यही बात सच हुई तो मैं खुद रामदेव से भांवर लूँगा और फिर उस बूढ़े बकरे को वहीं ख़तम भी करूंगा। आप लोग भय न करें। हम ५०० योधा पचास हज़ार के लिए बहुत हैं।

(२)

चित्तौड़ के दुर्ग पर रंग बिरंगी पताकाएं फहरा रहीं थीं। दुर्ग-द्वार पर नौबत बज रही थी और स्वर्ण कलश चढ़े हुए थे। सिंह-द्वार से तनिक आगे बहुत से घोड़े हाथी पालकी और सवार खड़े थे। सब से आगे दुर्ग-स्वामी राव रामदेव अपने सरदारों सहित सजधज कर खड़े थे। सड़कों पर अनेक मङ्गल सूचक चिह्न बने हुए थे। बहुत से पैदल और सवार जल्दी जल्दी प्रबन्ध करने के लिए दौड़ धूप कर रहे थे।

महाराणा हम्मीरसिंह उत्तम पीले वस्त्र पहिने एक बहुत चञ्चल घोड़े पर सवार थे। उनके कण्ठ में एक बड़ी-सी मोतियों की माला और सिर पर हीरे का एक

जगमगाता हुआ तुर्रा था। उनके साथ श्वेत वस्त्र धारण किये दो-दो तलवारें बग़ल में बांधे, ६० सरदार उन्हें घेरे धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। उनके पीछे ५०० सजीले शूर अपनी लाल लाल आंखों से चारों ओर घूरते हुए भारी भारी नंगी तलवारों को अपनी लोह-मुष्टि में दबाये पंक्ति-बद्ध आगे चले जा रहे थे।

महाराणा प्रसन्न चित्त अपने सरदारों से धीरे धीरे बातें करते चल रहे थे। उनका सुन्दर घोड़ा अठखेलियां करता, नाचता, उछलता बढ़ रहा था। प्रत्येक गति पर उसके पैर की झांझने बजतीं और उसके तुर्रे का हीरा बिजली की भांति चमक उठता था।

लोग जहां तहां खड़े होकर भय और आश्चर्य से इस अद्भुत दूल्हा और बारात को देख रहे थे।

एक बूढ़ा और दुर्बल ब्राह्मण इस दर्शक मण्डली को चीर कर आगे बढ़ा और राजपथ पर उधर ही को जाने लगा, जिधर से सवारी आ रही थी। वह पुरुष दुबला पतला और लम्बा था। वह एक रामनामी दुपट्टा ओढ़े था, और उसे इस बात की कुछ परवाह न थी कि लोग उसके इस साहस और मूर्खता के विषय में क्या कहेंगे। उसके एक हाथ में आचमनी का पात्र और दूसरे में दूर्वा-

दल था। और वह ऐसी धुन में बढ़ा जा रहा था कि उसके सफ़ेद और लम्बे-लम्बे केश उड़ कर अस्त-व्यस्त हो गये हैं, इसका उसे कुछ ज्ञान ही न था।

ज्यों ज्यों सवारी निकट आती गई, सभी का ध्यान उस ब्राह्मण की ओर गया।

एक ने कहा—अरे, देखो तो यह तो सीधा महाराणा की ओर चला जा रहा है।

दूसरे व्यक्ति ने कहा—पर यह है कौन ?

एक ने हंस कर साथी को कोहनी मार कर कहा—इसे नहीं जानते ? वही पागल ब्राह्मण नारायण।

दो तीन आदमी आश्चर्य से बोल उठे—अरे, यह है वह ? पर जा किस उद्देश्य से रहा है यह ?

"कुछ भिक्षा प्राप्त करने।"

"मूर्ख का यह भिक्षा का अवसर है ?"

दो तीन आदमी बोल उठे—देखो देखो, वह खड़ा हो गया, लो वह महाराणा के सन्मुख ! ...... अरे, देखो महाराणा घोड़ा रोक कर कुछ सुन रहे हैं।

ब्राह्मण ने निर्भय सवारी के सन्मुख जाकर दोनों हाथ उठा कर महाराणा को आशीर्वाद दिया। दूर्वादल से आच-मनी ले गंगोदक घोड़े और महाराणा के मस्तक पर छिड़का।

इसके बाद उसने चन्दन हाथ में लेकर कहा—अन्नदाता की जय हो, यह पवित्र तिलक मैं श्री मस्तक पर लगाऊँगा।

महाराणा मुस्करा कर तनिक झुक गये, ब्राह्मण ने तिलक दिया और साथ ही कान में कहा—सावधान, वहां जाना मृत्यु के मुख में जाना है, आप लौट जाइये।

इतना कह और उत्तर की बिना ही प्रतीक्षा किये वह तेज़ी से हट कर बग़ल की भीड़ में घुस गया।

क्षण भर महाराणा साहब खड़े रहे। उन्होंने भेद-भरी दृष्टि से निकटवर्ती सरदारों की ओर देखा। सरदारों में कानाफूसी होने लगी।

एक वृद्ध सरदार ने निकट झुक कर कहा—अन्नदाता, विपद सन्मुख है।

महाराणा हँस दिए, बोले—फिर भय क्या है? विपत हमारा मनोरंजन और मृत्यु हमारा व्यवसाय है। ठाकरां, आज मातृभूमि के दर्शन तो नसीब हुए। इतना कह कर उन्होंने घोड़ा बढ़ाया। सवारी धीरे-धीरे फिर आगे बढ़ी।

सिंह-द्वार के निकट पहुँचते ही राव रामदेव और सरदारों ने आगे बढ़ कर राणा का स्वागत किया तथा

राणा से घोड़े से उतरने का अनुरोध किया। राणा ने राव का हाथ पकड़ कर कहा—आपका यथेष्ट सम्मान करना कुलरीति के अनुसार ही मेरा कर्तव्य है, आप हमारे साथ आइये।

संकेत पाते ही एक सरदार अपने घोड़े से कूद पड़ा, और रावजी को अनायास ही उठा कर उसने घोड़े पर रख दिया। इसके बाद राणा की ओर देख कर कहा—विवाह-वेदी को छोड़ कर अन्यत्र भूमि पर पैर रखना हमारे कुल की रीति नहीं।

राव जी को यह सन्देह भी न था कि वे इस तरह एकाएक शत्रुदल से घिर जावेंगे। वे कुछ कर भी न सके। चुपचाप घोड़े पर बैठ गये। सवारी आगे बढ़ी और किले के सिंह-द्वार में घुस गई।

(३)

राव साहब ने इधर उधर देख कर कहा—मेरी इच्छा है पहिले सब सरदार काँसा जीम लें। भोजन का सभी सरंजाम तैयार है।

एक उमराव ने कहा—हमारे कुल की रीति के अनुसार प्रथम विवाह कृत्य कर लेना चाहिये। बिना यह कार्य किये हम अन्न-जल भी नहीं ग्रहण कर सकते। आप कन्या को

बुलाइये, पुरोहित और सब सामग्री हमारे साथ है।

इतना कहकर वे सभी महल के आंगन में घोड़े से उतर पड़े, और राव को रोक कर बैठ गये। द्वार को घेर कर ५०० वीर नंगी तलवारें लिये खड़े होगये।

राव साहब के प्राणों का संकट देख उनके सरदार घबरा गये। अभी एक ही क्षण में बुरा परिणाम हो सकता था। राव साहब का वहाँ से उठना असम्भव था। वे एक बार उठने भी लगे तो एक सरदार ने उनका हाथ पकड़ कर कहा—आप अब बिना कन्यादान किये कहाँ जाते हैं ? कन्या बुलाइये।

राव रामदेव की कन्या विवाह के योग्य थी ही नहीं, पर उनके प्राणों पर संकट देख कर उनकी विधवा पुत्री को दो तीन सरदार मण्डप में ले आये। शीघ्र ही विवाह कृत्य सम्पन्न हो गया। राव साहब चुपचाप यह काम देखते रहे।

इसके बाद ही वर बधू को भीतर लेजाया गया, राव साहब उठने लगे। सरदारों ने फिर उन्हें रोक कर कहा—हमारे कुल की रीति के अनुसार आज रात्रि भर आपको हमारे डेरों में रहना और हमारा ही आतिथ्य-ग्रहण करना

होगा, यह कह कर उन्होंने राव साहब को हाथों हाथ उठा लिया और बाहर ले आये।

(४)

रात्रि अन्धकार से परिपूर्ण थी, और राजपूताने की प्रसिद्ध पहाड़ी हवा तेज़ी से चल रही थी। उसकी पर्वतों से टकराने की ध्वनि मेघगर्जन की भाँति सुनाई देती थी।

परन्तु क़िले के एक सुसज्जित कमरे में कुछ और ही समाँ बंध रहा था। महाराणा एक बहुमूल्य कारचोबी के चदोवे के नीचे सुन्दरियों के झुण्ड में घिरे बैठे थे। कमरे में बढ़िया इरानी कालीन बिछे थे और उसकी दीवारें फूलों से सजाई गई थीं। सुन्दरियाँ बहुमूल्य रंग-बिरंगे वस्त्र पहिने नाना भाँति का हास-परिहास कर रही थीं। वे रंगीन शराब प्यालियों में ढाल ढाल कर महाराणा को देतीं और महाराणा उसे हंसकर होठों से लगा लेते, वह प्याला फिर अशर्फियों से भरकर वापिस दे दिया जाता। नाचने वालियाँ छमाछम नाच रही थीं, और डाढ़नें उच्च स्वर से माण्ड गा रही थीं। महाराणा उस शत्रुपुरी में असंयत होकर उस रूप-सागर में डूब रहे थे।

महाराणा के निकट ही रत्न और ज़रीदार वस्त्रों में

परिवेष्टित दुलहिन चुपचाप अधोमुख किये बैठी थी। उसका मुख-मण्डल विषाद से परिपूर्ण था, और वह ऐसा पीला पड़ रहा था कि मानों भय से उसका रक्त जम गया हो। वह कभी कभी चंचल नेत्रों से दूर पर्वतों पर टकराती वायु की ध्वनि को चमक कर सुनती, मानों उस आनन्दालोक की अपेक्षा उसका मन उस भयानक रात्रि में अधिक लग रहा था।

स्वामी से उसका प्रथम मिलन था, उसके मन में लज्जा होना सम्भव था, परन्तु यह केवल लज्जा न थी, एक भयानक भेद-प्रकाश की आशंका थी। वह आँखें चुराकर कभी कभी महाराणा का हास्योत्फुल्ल मुख और सुन्दर नेत्रों को देख लेती थी।

वधू के प्रसन्न करने की पूरी चेष्टाएँ की जा रही थीं। महाराणा स्वयं उसकी अनुहार कर चुके थे। सहेलियाँ और गाने वालियाँ उसी को लक्ष्य कर व्यंग गा रहीं थीं। पर वह बालिका मानों किसी और ही गुरुत्वपूर्ण विपय पर विचार रही थी। जो वास्तव में बहुत भयानक—बहुत भीषण था।

महाराणा मद्य पर मद्य पी रहे थे। हास्य उनके होठों और नेत्रों में रम रहा था। एक दासी ने विनय की—

अन्नदाता ! एक ब्राह्मण आपको आशीर्वाद देने आना चाहता है, वह राजकुल का पुरोहित है, बड़ी देर से बैठा दर्शनों के लिए हठ कर रहा है। वह एक बार महाराणा को आशीर्वाद दे भी चुका है।

महाराणा मदमस्त हो रहे थे। उन्होंने कहा—ओह वह बहुत उत्तम ब्राह्मण है, उसे दक्षिणा अभी नहीं मिली। यह लो और उसे देकर विदा करो। अभी मुलाकात नहीं होगी। यह कह कर उन्होंने गले की बहुमूल्य मोतियों की माला उतार कर दे दी।

वधू एक बार काँप उठी। अन्त में उसने एक स्त्री के कान में कहा—बस करो, अब गाना बजाना बन्द करो।

महाराणा ने अभिप्राय समझ कर गाने वालियों को संकेत से रोक दिया। वह तरंगित वातावरण एक बारगी ही स्तब्ध हो गया।

शीघ्र ही उनमें से बहुत सी स्त्रियां महाराणा को मुजरा कर करके चली गई। कक्ष में वधू और उसकी एक सहेली रह गई। वह वधू को पृथक् ले जाकर उसका शृंगार करने और पुष्पालङ्कार पहनाने लगी :

वधू ने विरक्त होकर कहा—रहने दे, मेरा जी अच्छा

नहीं है, बस अधिक शृङ्गार की आवश्यकता नहीं।

सखी हंसी और झटपट अपना असम्भावित इनाम ले बाहर हो गई। वधू अस्वाभाविक तेज़ी से द्वार तक उसके पीछे दौड़ी।

महाराणा ने लपक कर उसे पकड़ लिया और कहा—प्रिये! अब कहां भागती हो?

इतने में राणा ने देखा कि वधू बहुत कांप रही है। उसका रंग श्वेत हो गया है, वह मूर्च्छित-सी हुई जा रही है। राणा ने कुछ पीछे हटकर एक गम्भीर दृष्टि डालते हुए उससे इसका कारण पूछा।

वधू कांप रही थी। उसने कहा—मैं बहुत भयभीत हूँ।

"भय क्या है? जब तक यह सेवक उपस्थित है"--

"आप को उस ब्राह्मण का सन्देश सुनना चाहिये था, वह अवश्य कोई भयानक सम्वाद लाया था।"

महाराणा जोर से हँस पड़े। उन्होंने कहा—ओह! तुम भी उसी के समान भोली हो, मैं उसका सन्देश सुन चुका हूँ।

"मैं बहुत भयभीत हूं। हैं!! यह शब्द कैसा है? सुनो, सुनो।"

"कुछ नहीं है प्रिये, व्यर्थ ही शङ्कित न होओ।"

वधू ने इस लार स्थिर वाणी से कहा—ठहरिये,

महाराणा, आपको धोखा दिया गया है।

महाराणा ने हँसकर कहा—कैसा धोखा ?

"मैं विधवा हूँ।"

राणा पर वज्र गिरा। वे मेघ गर्जन की भाँति बोले—"क्या कहा ?"

इतना कहकर राणा निस्तब्ध हो गये।

वधू ने फिर कहा—महाराणा, इससे भी महत्व-पूर्ण प्रश्न आपके सामने है, आपके प्राण सङ्कट में हैं, उनकी रक्षा कीजिये।

इतने में एक मशाल का प्रकाश खिड़की की राह उधर ही आता दिखाई दिया। इसी के साथ नीचे बाग़ में पैरों और रौंदने की ध्वनि सुन पड़ी। इसके बाद शस्त्रों की झनकार, तथा लोगों की कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ी।

राणा ने पागल की तरह दांत पीस कर कहा—विश्वासघात, इस समय कोई शस्त्र भी पास नहीं।

"आप पीछे की खिड़की से कूद कर भागिये। और पच्छिम की ओर द्वार से बाहर अपनी छावनी में पहुँच जाइये, मैं द्वार रोकती हूँ।"

वधू द्वार की ओर लपकी।

राणा झटपट खिड़की की ओर दौड़े। उन्होंने द्वार खोलना चाहा, पर वह बाहर से बन्द था। उन्होंने हताश

होकर चिल्ला कर कहा—वे सब तो बाहर से बन्द हैं।

वधू द्वार पर अड़ी खड़ी थी, उसने वहीं से चिल्ला कर कहा—शोक! शोक! इन किवाड़ों में कोई बेंवड़ा और सांकल भी नहीं है।

राणा किसी शस्त्र की खोज में व्यर्थ इधर उधर दौड़ने लगे। फिर उन्होंने वधू के पास आकर कहा—कैसे शोक की बात है—यहाँ कोई भी अस्त्र नहीं। शोर बढ़ रहा था।

वधू ने कहा—स्वामी जल्दी कीजिये, वह चीमटा ले लीजिये। फ़र्श के बीचों बीच की बड़ी पटिया को उखाड़ लीजिये, उसके नीचे सीढ़ियाँ हैं। वह तहख़ाना चौक में आपको ले जायगा। वहाँ से आप मार्ग ढूँढ लीजिये।

महाराणा बिजली की भाँति पटिया उखाड़ने को दौड़े। भयानक कोलाहल पास आ रहा था। लोगों के आने की आहट बढ़ रही थी, लोग क्रोध में चिल्ला रहे थे।

वधू ने चिल्ला कर कहा—आप जब तक न उतर जायँगे, मैं उन्हें रोकूंगी।

दरवाज़े पर चोटें पड़ने लगीं। बधू ने द्वार से अपना कोमल शरीर चिपटा दिया था, और अपनी सुनहरी मृदुल बाँह को लोहे के बड़े बेंवड़ों में डाल दिया। वह वीर-बाला

अपनी कोमल बाँहों का अड़ंगा डाले वहाँ स्थिर खड़ी रही, जहाँ भारी चटख़नी की ज़रूरत थी।

बाहर सैंकड़ों चोटें पड़ रहीं थीं। और उसके हाथ में उसके प्राण आ जूझे थे। उसकी आँखें निकली पड़ती थीं, पर वह दाँतों से होठ चबाती हुई उस असह्य वेदना को सह रही थी। उसकी दृष्टि उस पत्थर की पटिया पर थी–जो राणा के जाने पर ठीक ठीक न बैठ सकी थी।

दरवाज़ा–मानो अब उखड़ा-तब उखड़ा। उसमें हथियार छेदे जा रहे थे। उसकी नोकें उसके कोमल शरीर में गढ़ रही थीं और रक्त की धार उसमें से बह रही थी। उसकी बाँह—दरवाज़े पर बाहर से ज़ोर करने के कारण–कमान की भाँति मुड़ गई थी। परन्तु उसने दाँतों से अपने होठ इतनी दृढ़ता से दबा रखे थे कि 'हाय' तक मुँह से न निकल सकता था।

राणा ने भीतर से चिल्लाकर कहा—मैं यहाँ चूहेदानी में बन्द चूहे की भाँति हूँ। सभी दरवाज़े बन्द हैं।

कोमल बाँह उस भयानक आक्रमण का कहाँ तक मुक़ाबिला करती! द्वार टूट गया। वह घुटनों के बल गिर गई। वह हाँफ रही थी। उसकी बाँह टूट गई थी। लोग

अन्दर घुस आये। एक ने कुत्ते की भाँति एक ठोकर मारी, और पूछा—बता राणा कहाँ हैं ?

यह प्रश्न-कर्ता और ठोकर मारने वाला राव रामदेव था।

वह कुछ न बोली और बेसुध होकर गिर गई।

एक सिंहगर्जना करके राणा एक ही छलांग में ऊपर आये। उनके हाथ में वही भारी पटिया थी। उसे एक सिपाही के सिर पर दे मारा। सिपाही अर्रा कर गिर गया, उसकी तलवार झन्नाकर अलग जा गिरी। उसे हाथ में लेकर राणा ने कहा—अरे हत्यारे कायरो, स्त्री-हत्या के पातकियो ! अब आओ।

राणा समर का चिर अभ्यस्त खेल खेलने लगे। रुण्ड-मुण्ड कट कर धरती पर गिरने लगे। मारकाट और चीत्कार से रात्रि में पर्वत काँप गये। राणा की तलवार जिस पर चलती उसकी गर्दन को साफ़ करती, दूसरे के धड़ को चीरती और फिर तीसरे के हाथ पैरों का सफाया करती जाती थी।

लाशों के ढेर लग गये। राणा उन्हें पैरों से रौंद कर तलवार चला रहे थे। नये नये सिपाही टिड्डीदल की भांति चले आ रहे थे। राणा के पास साधारण तलवार थी—

बचाव का कोई सरंजाम न था। धीरे-धीरे राणा का शरीर क्षत विक्षत होने लगा। और रक्त के अधिक बहने से वे शिथिल होने लगे।

हठात् उन्होंने बिगुल की ध्वनि सुनी। यह उन्हीं की सेना के बिगुल की ध्वनि थी। राणा और भी जोश में हाथ चलाने लगे। क्षण भर में राणा के सरदार और वीर भीतर घुस आये। फिर एक वार भयानक तलवार चली। चीत्कार और हाय हाय का अन्त न रहा।

सरदारों ने आकर महाराणा को हाथों ही हाथों में उठा लिया। युद्ध समाप्त हो चुका था और शत्रु सब काट डाले गये थे।

एक सरदार ने कहा—महाराणा की जय हो! हम लोग बड़े भ्रम में पड़ गये थे।

महाराणा ने कहा—ठहरो, यह बात पीछे होगी। अभी वधू को ढूँढना है—वह शायद लाशों में दब गई है।

"अन्नदाता, वे शिविर में हैं, उन्हींने हमें सूचना दी है।"

महाराणा ने जल्द चलने के लिए कहा। वे घोड़े पर न चढ़ सकते थे। पालकी में उन्हें ले जाया गया।

वधू शैय्या पर मुमूर्षु अवस्था में पड़ी थी। राजवैद्य उसके उपचार में व्यस्त थे।

राणा ने कहा—राजपुत्री, तूने विषम साहस किया! क्या तूने द्वार में बाँह अड़ायी थी?

राणा ने देखा—उसकी बाँह की हड्डी चूर-चूर होगई है।

वधू ने मुस्करा दिया।

राणा की आँखों से आँसू निकल पड़े, उन्होंने कहा—राजपुत्री! क्षमा करना, मैंने तुम्हारा घोर अपमान किया था।

कुछ क्षण वधू के मुख पर वैसी ही मुस्कान छाई रही। उसने कहा—स्वामिन्! यह अधम शरीर अच्छा काम आया, अब यदि उस जन्म में फिर कभी ऐसा सु-योग हो तो क्या आप इस दासी को अपनावेंगे?

"वीरबाला! तुम जीवित रहो, मैंने तुम्हें ग्रहण किया—तुम राजमहिषी हो।"

वधू के मुख पर फिर हास्य आया और आईं—आँसुओं की दो बूँदें। वे बूँदें क्षण भर आँखों में रहीं और फिर ढरक गईं—उन्हीं के साथ ढरक गये—वे वीर और प्रेमी प्राण!!!

———

पं० विश्वम्भरनाथ जी कौशिक

कौशिक जी का जन्म सम्वत् १९४८ में अम्बाला छावनी मे हुआ। आजकल आप कानपुर रहते हैं। संगीत, चित्रकला आदि से इन्हें विशेष प्रेम है। ये कहानी-लेखक, उपन्यासकार तथा नाटककार भी हैं। इनके 'चित्रशाला' और 'मणिमाला' नामक दो गल्प-संग्रह, 'मां' और 'भिखारिणी' नामक दो उपन्यास, तथा भीष्म आदि दो-तीन नाटक प्रकाशित हो चुके हैं।

कौशिक जी की कहानियाँ शायद अनगिनत होंगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कि वे शायद एक प्याला चाय पीते पीते कहानी लिख सकते हैं। इस सम्बन्ध में मैंने उनकी प्रशंसा भी सुनी है, परन्तु विचारने की बात एक यह है कि उनकी कहानी इधर पढ़ी, उधर भूली! उनमें कहानी के पात्रों के साथ हँसना, रोना, पागल होना–कभी नहीं होता। वे वास्तव में कहानियाँ नहीं, कुछ ख़ास २ बातचीत हैं जो सीमित सामाजिक विषयों पर सुन्दर नपे तुले ढंग पर की गई होती हैं। उनमें जीवन मरण घटनाएं सब कुछ हैं, परन्तु हवा भरी हुई रबर की पुतली की भांति।

दीपावली

(१)

दीपावली की सन्ध्या थी। एक छोटे से घर में एक दरिद्र परिवार लक्ष्मी-पूजन का आयोजन कर रहा था। एक कोने में दीवार पर श्वेत लकीरें-सी खिंची हुई थीं, जिन्हें बहुत ध्यान से देखने पर यह पता चलता था कि विराट्-रूप बनाने का असफल प्रयास किया गया है। उस चित्र के नीचे गोबर से लिपी हुई भूमि पर दो नई, परन्तु भद्दी बनी हुई, हटरियाँ रखी हुई थीं। हटरियों के आगे आठ-दस मिट्टी की छोटी-छोटी दिउलियाँ रखी थीं। जिनमें बत्ती तथा तेल पड़ा हुआ था। एक ओर ताक पर अंडी के तेल का दीपक जल रहा था। पास ही एक वृद्धा अपने घुटनों पर मुख रखे चिन्तितावस्था में बैठी थी। उसके सामने एक युवती, जिसकी वयस लगभग २४—२५ वर्ष की होगी, दीवार पर खिंचे हुए चित्र को स्थिर दृष्टि

से देख रही थी। कदाचित् वह चित्र उसी का बनाया हुआ था, और वह मन-ही-मन उसकी आलोचना कर रही थी। युवती के शरीर से अपना शरीर सटाये हुए एक अष्टवर्षीय बालक बड़े ध्यान से कभी एक हटरी को देखता और कभी दूसरी को।

सहसा बालक ने अपना मुख किंचित् ऊपर उठा कर युवती के मुख की ओर देखते हुए कहा—"अम्मा, अब दिये जलाओ, रात तो होगई।"

युवती ने चित्र पर से दृष्टि हटा कर बालक के मुख की ओर स्नेहपूर्ण नेत्रों से देखते हुए उत्तर दिया—"अभी जलाये जायँगे, ज़रा और अँधेरा हो जाय।"

वृद्धा घुटने पर से मुख उठा कर आँचल को ठीक करते हुए बोल उठी—"अपने बाबू को तो आ जाने दे। अभी खील-खिलौने तो आए ही नहीं।"

बालक माता के पास से घुटनों के बल वृद्धा के पास आया, और घुटनों के बल खड़े होकर वृद्धा के कन्धों पर अपने दोनों हाथ रखते हुए बोला—"दादी, बाबू कैसे खिलौने लायँगे?"

दादी ने बालक के सिर पर हाथ फेरते हुए उत्तर

दिया—"गणेश लायँगे, लच्छमी लायँगे, और भी बहुत कुछ लायँगे।"

बालक प्रसन्नमुख दादी के गोद में घूम कर बैठ गया। और पुनः हटरियों की ओर ताकने लगा।

वृद्धा युवती से बोली—"पूजा की थाली लाकर रख, रज्जू आता ही होगा।"

युवती आँचल सम्भालती हुई उठी, और पास की एक कोठरी के अन्दर चली गई। कुछ क्षण पश्चात् पीतल की एक छोटी थाली हाथ में लिए हुए पुनः बाहर आई। उसने थाली लाकर दिउलियों के निकट रख दी। थाली में रोली, थोड़े से अक्षत और जलपूर्ण छोटा सा पात्र रखा हुआ था। बालक खिसक कर थाली के पास आ बैठा, और उसने अपनी उँगली रोली की ओर बढ़ाई, परन्तु इसके पूर्व ही कि उँगली रोली तक पहुँचे, वृद्धा बोली—"हाँ, हाँ, हाथ मत लगा, सब ख़राब हो हो जायगा।"

बालक ने झिझक कर हाथ पीछे हटा लिया, और घूम कर दादी के मुख की ओर देखता हुआ बोला—"ख़राब क्या हो जायगा? मैं टीका लगाऊँगा।"

उसकी माता बोली—"अभी नहीं, पहले पूजा तो हो जाने दे।"

इतना कह कर युवती बाहर चली गई, और कुछ क्षण पश्चात् पुनः अन्दर आकर बोली—"अब तो पूजा का बखत हो गया।"

"हाँ, रज्जू भी अब आता होगा।" वृद्धा ने कहा।

युवती बैठ गई। उसे बैठे कुछ ही क्षण व्यतीत हुए होंगे कि किसी के आने की आहट ने सब को चौंका दिया। बालक—"बाबू आ गये" कह कर बड़ी ही उत्सुकता से द्वार की ओर देखने लगा। युवती भी सिर का पल्ला आगे खिसकाकर एक ओर सरक गई। इसी समय एक पुरुष, जिसकी वयस ३० वर्ष के लगभग होगी, दाएँ हाथ में एक गठरी तथा बाएँ हाथ में कुछ मिट्टी के खिलौने लिये हुए अन्दर आया। पहले गठरी उसने ज़मीन पर रख दी, और फिर बड़ी सावधानी से मिट्टी के खिलौनों को गठरी के पास ही रख दिया, बालक तीरकी तरह खिलौनों के पास पहुँच गया। दोनों हाथों से सब खिलौनों को उसने एकदम से उठाना चाहा, परन्तु उसकी माता ने लपक कर उसका एक हाथ पकड़ लिया, और धीमे स्वर में बोली—"टूट जायँगे।"

बालक दूसरे हाथ में एक खिलौना उठाकर बोला—"अहा हा ! यह तो परी है, परी !"

माता ने लक्ष्मी तथा गणेश की मूर्ति उठाकर थाली में रख दी, और शेष दो खिलौने दोनों हटरियों के बीच में रख दिये। पुरुष ने अपना कोट उतार कर खूँटी पर टाँग दिया।

वृद्धा बोली—"अब तो पूजा का बखत हो गया होगा ?"

पुरुष ने उत्तर दिया—"हाँ, ज़रा पैर धो लूँ।"

इतना कहकर वह पुनः बाहर चला गया।

इधर युवती कोठरी के भीतर से एक बड़ी परात ले आई। उस परात में उसने गठरी खोल कर खीलें, बताशे तथा कुछ शक्कर के खिलौने रख दिये, और परात को पूजा की थाली के पास सरका दिया।

वृद्धा बोली—"आसन बिछा दे।"

युवती एक कुशासन ले आई, और उसे थालियों के सामने बिछा दिया।

पुरुष, जिसका नाम राजकिशोर था, आकर आसन पर बैठ गया। पहले उसने अपनी टेंटसे एक रुपया निकालकर थाली में रखा। तत्पश्चात्' थाली में इधर-उधर

देखकर बोला—इसमें मिट्टी का टुकड़ा और कलावा तो रखा ही नहीं।"

वृद्धा ने सिर घुमाकर युवती की ओर देखा, परन्तु वह पहले ही जा चुकी थी। कुछ क्षणों में वह दोनों चीजें ले आई, और उसने उन्हें थाली में रख दिया।

राजकिशोर ने मिट्टी के टुकड़े पर कलावा लपेटकर उसे 'गणेश' में परिवर्तित किया, तत्पश्चात् पहले स्वनिर्मित गणेश तथा रुपये का पूजन किया। इसके उपरान्त मिट्टी की मूर्तियों का पूजन किया। पूजन करने के बाद दो दीपक जलाये, और तब बालक के तिलक लगाया। खील और बताशे इत्यादि उठाकर बालक को दिये। बालक के एक हाथ में 'परी' थी, दूसरे हाथ से उसने कुरते का दामन उठाकर उसमें खीलें ले लीं। वृद्धा बोल उठी—"हे लच्छमी महारानी, हे गनेश जी! रज्जू की नौकरी लगवाओ; छै महीने बैठे-बैठे हो गये। हे दिवाली भैया! अब तो किरपा करो।"

राजकिशोर का मुख गम्भीर हो गया—ऐसा प्रतीत हुआ, मानों उसने भी माता की प्रार्थना का अनुमोदन किया। पीछे बैठी हुई पत्नी ने एक लम्बी साँस ली।

थोड़ी सी खीलें और बताशे मुँह में रख कर राज-

किशोर उठ खड़ा हुआ, और बाहर चला गया। उसके जाने पर युवती ने भी पूजन किया और कुछ देर तक हाथ जोड़े प्रार्थना करती रही। तत्पश्चात् शेष दीपक जलाये, उन्हें थाली में रख कर बाहर ले गई।

भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर राजकिशोर अपनी माता से बोला—"अम्माँ, अब मैं जाता हूँ, मेरी राह न देखना।"

"कहाँ जाओगे, बेटा?"—माता ने पूछा।

"जाता हूँ, ज़रा भाग्य की परीक्षा करूँगा—शायद दिवाली महारानी फल जावें।"

वृद्धा बोली—"क्या जुआ खेलेगा? अरे बेटा, ऐसा न करना। कहीं हार-हूर जाओ, तो ग़रीबी में आटा गीला हो जायगा। अभी न-जाने कब तक नौकरी न लगे, तब तक खाने को भी तो चाहिए।"

"कुछ भी हो अम्माँ, अब तो जो होगा, देखा जायगा।"

इतना कह कर युवक बाहर की ओर चला। बाहर पत्नी से मुठभेड़ हुई। वह बोली—"जुआ-उआ मत खेलो। हमें जुए का पैसा नहीं चाहिए। और जो कहीं हार गए, तो रोटियों के लाले पड़ जायँगे।"

राजकिशोर ने पत्नी के मुख पर दृष्टि डाली।

क्षीणालोक में भी उसने पत्नी के मुख पर चिन्ता तथा आन्तरिक पीड़ा के स्पष्ट चिह्न देखे। पति के बेकार होने के पश्चात् छै मास के अन्दर उसका सुन्दर मुख जो चिन्ता के कारण कुम्हला गया था, वह इस समय जुए के दुष्परिणाम की आशंका से अत्यन्त करुणोत्पादक हो उठा था।

राजकिशोर के अन्तस्तल से एक आह निकली; परन्तु उसने उसे भीतर ही दबाकर गद्गद कंठ से कहा—"भगवान सब अच्छा ही करेंगे—तुम घबराओ नहीं।"

इतना कहकर राजकिशोर तेज़ी के साथ बाहर चला गया।

(२)

"बाबूजी, एक टिकट दे दीजिए।" थर्डक्लास-टिकटघर की खिड़की पर खड़े हुए राजकिशोर ने कहा।

"कहाँ का?"—बाबू ने पूछा।

राजकिशोर सोचने लगा।

बाबू ने उसे सोचते हुए देखकर कुछ अप्रसन्नता से कहा—"जल्दी बोलो!"

"अच्छा कलकत्ते का दे दीजिये।" राजकिशोर ने

उत्तर दिया। अन्य मुसाफ़िर उसकी ओर विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे।

राजकिशोर टिकट लेकर भीड़ के बाहर निकला और टिकट को देखता हुआ धीरे-धीरे प्लैटफ़ार्म पर पहुंचा। उसके साथ कोई असबाब न था। जिन कपड़ों में वह रात को घर से निकला था, वही कपड़े उसके शरीर पर थे। प्रातःकाल के सात बज रहे थे। गाड़ी आने में पन्द्रह मिनट की देर थी। राजकिशोर प्लेटफ़ार्म पर टहलने लगा। उसके नेत्र इस समय लाल हो रहे थे—रह-रहकर वे छलछला आते थे, परन्तु कुछ क्षणों में ही वे शुष्क हो जाते थे। उसके मुख पर चिन्ता की गम्भीरता थी। क्षण-क्षण पर निकलनेवाली दीर्घ निश्वासों से उसकी आन्तरिक वेदना प्रकट हो रही थी।

ट्रेन आई। राजकिशोर एक कम्पार्टमेंट में जाकर कोने में बैठ गया। स्टेशन की चहलपहल की ओर उसका ध्यान नहीं था, और न कम्पार्टमेण्ट में बैठे हुए अन्य किसी यात्री की ओर लक्ष्य। ऊनी चादर के अन्दर दोनों हाथ छिपाये खिड़की के बाहर की ओर उसकी दृष्टि स्थिररूप से लगी हुई थी।

गाड़ी ने सीटी दी, और एक झटके के साथ चल पड़ी।

क्रमशः प्लैटफ़ार्म, स्टेशन की हद, लाइन के दोनों ओर मकानों की कतारें तथा सड़कों पर दौड़ती हुई अनेक प्रकार की सवारियाँ पीछे छूटने लगीं। राजकिशोर ने अपना मुख खिड़की के बाहर निकाल लिया, और उसके नेत्रों से आँसुओं की बूँदें टपकने लगीं।

दिन के सवा तीन बजे के उपरान्त ट्रेन मुग़लसराय पहुँची। राजकिशोर उसी स्थान पर बैठा था। ऊनी चादर तह करके घुटने के नीचे रख ली थी। जिस बेंच पर राजकिशोर बैठा था, वह इस समय बहुत कुछ खाली हो चुकी थी। उसके दूसरे सिरे पर द्वार के निकट एक व्यक्ति बैठा हुआ था। सहसा द्वार खुला, और कुली एक ट्रंक तथा बिस्तर का बण्डल सिर पर रखे अन्दर आया। उसने आकर राजकिशोर के ऊपरवाले तख़्ते पर दोनों चीज़ें रख दीं। उसी के पीछे एक मारवाड़ी आया, और राजकिशोर के निकट बैठ गया। पहले उसने कुली का हिसाब चुकाया; परन्तु कुली को सन्तोष न हुआ, उसने कहा—"सेठ जी, कम-से-कम चार पैसे तो और दीजिए, पुल पर से लाया हूँ।"

"पुल पर से लाया है, तो क्या भया, जो तेरा

रेट है, उससे दो पैसा बढ़ती ही दिया है।"—सेठ जी ने कहा।

"रेट से हमारा पेट थोड़ा ही भरता है, सेठजी ! आप जैसे सेठ लोग तो बहुत कुछ दे जाते हैं।"

"मैं वैसा सेठ नहीं हूँ, समझा। जा, अपना काम देख !"

"अच्छा, दो ही पैसे दे दीजिए।"—कुली ने प्रार्थना की।

"एक कच्चा धेला तो अब दूँ नहीं। जा भाग।" सेठजी आँखें दिखा कर बोले।

कुली बड़बड़ाता हुआ चला गया। सेठजी राज-किशोर की ओर देख कर बोले—"इन ससुरों को चाहे जितना जास्ती दे दो, पर इनका मन नहीं भरता।"

राजकिशोर शुष्क-भाव से किंचित् मुसकरा कर बोला—"बात तो आप ठीक कहते हैं।"

"बड़ी बदज़ात कौम है।—आप कहां जायंगे ?"

"कलकत्ता !"—राजकिशोर ने उत्तर दिया।

"ओहो ! तब तो म्हारा आपका साथ है। कहां से आ रहे हो ?"

"कानपुर से !"

"अच्छा ! यह तो बड़ा अच्छा संजोग है। मैं तीन बरस कानपुर में रहा हूँ। हमारे सेठ की एक दूकान कानपुर में भी है। पहले मैं उसी दूकान में था। अब इधर उन्होंने मुझे कलकत्ते बुला लिया, तब से वहीं हूँ। चार दिन भये काशी जी आया था—अब आज कलकत्ता जा रहा हूँ।"

"दीवाली घर पर की होगी। काशीजी में घर है क्या ?"—राजकिशोर ने पूछा।

"अजी राम ! हम तो जहां रहें हैं, वहीं म्हारा घर हो जावे है। और हमें होली-दिवाली से क्या काम ? घर पर रहे, तो घर पर हो गई, जो परदेस में भये, तो परदेस में हो गई। काम पहले होना चाहिए।"

"ठीक बात है।"—राजकिशोर ने कहा।

सेठजी ने बेंच को खाली देख कर राजकिशोर से कहा—"हुकुम हो, तो बिस्तर लगा लूं, रात-भर का सफर है।"

"हां, हां, अवश्य !"—राजकिशोर बोला।

सेठजी उठे, ऊपर से बिस्तर उतारा और उसे खोल कर बेंच पर बिछाया। राजकिशोर ने भी सहायता की।

बिस्तर बिछा कर सेठ जी बोले—"आप भी अपना बिस्तर ऊपर लगा लीजिए।"

राजकिशोर कुछ लज्जित-भाव से बोला—"मेरे पास बिस्तर-विस्तर नहीं है। मैं तो जैसा आपके सामने बैठा हूँ, वैसे ही हूँ।"

"अरे! जे कैसी बात! इतना लम्बा सफर और साथ में कुछ नहीं? वहाँ कहाँ ठहरोगे?"

"क्या बताऊँ सेठ जी, मुसीबत का मारा हूँ। नौकरी की तलाश में जा रहा हूँ, जो कहीं लग जाय तो……"

सेठ जी ने एक बार राजकिशोर को ध्यानपूर्वक सिर से पैर तक देख कर पूछा—"कौन भाई हो?"

"गौड़ ब्राह्मण हूँ।" राजकिशोर ने उत्तर दिया।

"ओहो! तब तो आप हमारे पूज (पूज्य) हो।"

इसी समय गाड़ी ने सीटी दी, और चल पड़ी।

(३)

राजकिशोर को कलकत्ते आए हुए चार दिन व्यतीत होचुके हैं। जिस सेठ से रेल में उसका परिचय हुआ था, उसी ने राजकिशोर को अपने स्वामी के यहां नौकर रखा दिया। यद्यपि राजकिशोर को आश्रय तथा जीविका

दोनों की प्राप्ति हो गई, परन्तु फिर भी वह उदास रहता है। कलकत्ते में यद्यपि उस जैसे नवागन्तुक के लिए मनोरंजन के यथेष्ट साधन थे; परन्तु फिर भी उसके चित्त में शान्ति नहीं थी। दीपावली की रात्रि, लक्ष्मी-पूजन, पुत्र का स्मरण, क्षीणालोक में देखे हुए पत्नी के करुणापूर्ण मुख की स्मृति, माता का वात्सल्य प्रत्येक समय उसके नेत्रों के सम्मुख नृत्य किया करता था। उसके इस प्रकार ग़ायब हो जाने पर उनकी क्या दशा हुई होगी, इसका विचार आने पर वह व्याकुल हो उठता था। कई बार उसके चित्त में आया कि पत्र लिख कर उनको अपना समाचार भेज दे, परन्तु वह टाल जाता था। वह सोचता था, 'पत्र लिख कर क्या करूँगा, मैं स्वयं दो-चार दिन में जाऊँगा। यहां मेरा चित्त नहीं लगता, मैं यहां अधिक दिन न रह सकूँगा। मालिक से अवसर पाकर कहूँगा कि वह मुझे कानपुर की दूकान में नौकर कर के वहां भेज दें। यदि मान जायँगे, तो अच्छी बात है, नहीं यहाँ तो रहूँगा नहीं।' इस प्रकार मन में निश्चय कर वह अपना समय व्यतीत कर रहा था। एक-एक क्षण उसे पहाड़ हो रहा था। दिल बहलाने के लिए जब वह कलकत्ते की सड़क पर निकलता, तो उसे ऐसा प्रतीत होता कि

वह किसी जनशून्य स्थान में है। सैंकड़ों हज़ारों आदमी इधर-उधर आते-जाते दिखाई पड़ते थे, परन्तु सब अपने-अपने काम में इतने व्यस्त थे कि किसी को किसी से कोई सरोकार ही न जान पड़ता था। इतने बड़े जनसमूह तथा कलरव में वह अपने को बिलकुल अकेला पाता था। कोई उसकी बात न पूछता था, कोई उसके हृदय की अशान्ति दूर करने के लिए उस पर सान्त्वना-पूर्ण दृष्टि तक न डालता था। अनेक मंज़िलों की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ उसे कबूतरों का दरबा और उसमें रहने वाले असंख्य मनुष्य उसे कबूतर-सदृश प्रतीत हो रहे थे। उन्हें देख कर उसे अपना छोटा सा घर याद आ जाता था। वह सोचता था, इनमें रहने की अपेक्षा उसे अपने छोटे और तंग मकान में रहने में अधिक सुख मिल सकता है। एक छोटी दूकान के सम्मुख एक बंगाली बाबू खड़े कुछ काग़ज़ तथा पेन्सिल ख़रीद रहे थे। राजकिशोर वहाँ खड़ा होकर मोटरों की क़तार देखने लगा। हठात् उसके पैर पर कोई वस्तु गिरी। उसने देखा एक चमड़े का बेग है। उसने बेग उठाकर इस अभिप्राय से कि यह किसका है, इधर उधर देखा। बंगाली बाबू छड़ी बग़ल में दाबे, कोट के बटन बन्द

करते हुए, आगे बढ़ रहे थे। राजकिशोर ने लपक कर उनसे कहा—"बाबू, यह आपका है?" बाबू साहब ने घूमकर चश्मे के भीतर से बेग पर दृष्टि डाली। तत्पश्चात् 'ओ' कहकर राजकिशोर के हाथ से बेग छीन लिया, और चलते बने।

राजकिशोर अप्रतिभ खड़ा रह गया। बंगाली बाबू ने धन्यवाद-सूचक कोई शब्द कहना तो दूर, उसकी ओर देखा भी नहीं! राजकिशोर की तबीयत ऊबी, वह सीधा मालिक की कोठी पर आया, और अपनी कोठरी में बैठकर रोने लगा।

सेठ जी अपने विशाल कमरे में बैठे हुए थे। राजकिशोर एक तार लेकर उनके पास पहुँचा। वे अपने बड़े मुनीम से कुछ बात कर रहे थे। राजकिशोर ने तार सामने रख दिया। सेठ जी तार खोलते हुए मुनीम जी से बोले—"अच्छा, कर लो; परन्तु एक लाख का जुआ है, खूब सोच समझ लेना चाहिये।"

मुनीम जी बोले—"हाँ, जुआ तो लम्बा है; परन्तु है करने योग्य।"

"तो कर डालो।"—इतना कहकर सेठ जी ने तार पर दृष्टि डाली।

मुनीम जी बोले—"अच्छा, तो आप सोच लीजिए, मैं भी सोच लूँ—अभी थोड़ी देर में आऊँगा।"

"अच्छा!"—कहकर सेठ जी ने तार अलग रख दिया। मुनीम जी चले गये।

"एक लाख का जुआ!" राजकिशोर का कलेजा दहल गया। सेठ जी ने उसकी ओर देखकर किंचित् मुसकराते हुए पूछा—"क्या बात है पंडत जी? उदास बहुत रहते हो। क्या जी नहीं लगता?"

राजकिशोर ने दीनतापूर्वक कहा—"सेठ जी यदि अपराध क्षमा हो, तो कुछ कहूँ।"

"कहो! कहो! अपराध की क्या बात है"—सेठजी ने प्रोत्साहनपूर्ण स्वर में कहा।

"अन्नदाता! जुए की बदौलत आज मेरी यह दशा है कि मैं अपने बाल-बच्चों से दूर यहां पड़ा हूं। मैं छै महीने से बेकार था, घर में केवल चालीस रुपये थे। उन्हें लेकर मैं दिवाली की रात को जुआ खेलने निकला। रात-भर खेलता रहा, और सवेरे चार बजे तक सब हार गया। अपनी पूँजी गंवाकर घर लौटने की हिम्मत नहीं हुई। सोचा, माता और पत्नी से क्या कहूंगा। उनके भोजन का प्रबन्ध कैसे करूंगा। मैं इसी सोच में पागल-

सा हो गया। उसी पागलपन में मैंने वहीं एक मित्र से कुछ रुपये उधार लिये, और सीधा स्टेशन की ओर भागा, और कलकत्ते का टिकट लेकर गाड़ी में बैठ गया, और यहां आ गया। यह सारी घटना मुझे स्वप्न-सी प्रतीत हो रही है। दिवाली की रात को अधर्म से धन प्राप्त करने की लालसा ने मुझे इस दशा में पहुँचाया। सेठ जी, जुए का नाम सुनते ही मेरे रोएँ खड़े हो जाते हैं।"

सेठ जी सहानुभूतिपूर्वक मुसकरा कर बोले—"ठीक है, जुआ ऐसी ही चीज़ है; परन्तु हम जो जुआ खेलते हैं, वह दूसरी चीज़ है।"

"धर्मावतार जुआ जुआ ही है, वह चाहे जैसा हो। मेरी तो आप से हाथ जोड़ कर यही प्रार्थना है कि आप यह काम न करें।"

सेठ जी खिलखिला कर हँस पड़े। राजकिशोर म्लानमुख होकर सेठ जी का मुख ताकने लगा। कुछ क्षणों तक हँसने के पश्चात् सेठ जी बोले—"जुए से तुमको बहुत कष्ट पहुँचा है?"

"यह कष्ट क्या कुछ कम है? बिना कहे-सुने घर छोड़ कर भाग आया। रात-दिन वहीं की चिन्ता लगी रहती है। किसी बच्चे को रोते देखता हूँ, तो यह सोचकर कि मेरा

बच्चा भी मेरी याद में इसी प्रकार रोता होगा, मेरी छाती फटने लगती है। किसी स्त्री को दुःखी देखता हूँ, तो अपनी माता तथा पत्नी की याद आ जाती है कि वे भी इसी प्रकार दुःखी होंगी। एक दुःख हो, तो कहूँ। अन्नदाता, यदि आप मुझे घर जाने की आज्ञा दे दें, तो आपका बड़ा उपकार मानूँ। मैं इतना व्याकुल हूँ कि यदि मेरे पास ख़र्च होता, तो मैं बिना आप से पूछे चला जाता; परन्तु पैसा पास नहीं है, इससे लाचार हूँ।"

कहते-कहते राजकिशोर का गला भर आया, नेत्रों में आँसू छलछला आये। सेठ जी का मुख गम्भीर हो गया। कुछ क्षणों तक राजकिशोर की ओर दयापूर्ण दृष्टि से देखते रहे। तत्पश्चात् बोले—"अच्छा, यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो कल या परसों चले जाना। कानपुर में हमारी एक दूकान है, वहाँ काम करना।"

राजकिशोर हाथ जोड़कर कृतज्ञतापूर्ण स्वर में बोला—"यदि इतनी दया हो जाय, तो मैं आपका जन्म-भर गुण मानूँगा।"

सेठजी ने कहा—"अच्छा, परसों चले जाना, जाओ।"

राजकिशोर आँखें पोंछता हुआ बाहर की ओर चला।

उसी समय मुनीम जी अन्दर आये। राजकिशोर बाहर चला गया।

सेठ जी के मुखपर गम्भीरता थी। मुनीम जी ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा—"मेरी राय में तो यही आता है कि ईश्वर का नाम लेकर यह सौदा कर लीजिए।"

सेठ जी अन्यमनस्कता से बोले—"हटाओ! नहीं करूँगा—फिर देखा जायगा। जाइये, इस समय मेरा चित्त ठीक नहीं।"

मुनीम जी विस्मयपूर्ण दृष्टि से सेठ जी को देखते हुए चले गये।

(४)

राजकिशोर कानपुर लौटने की तैयारी कर रहा था। सेठ जी ने कुछ रुपये दिये थे, उन्हीं से उसने माता तथा पत्नी के लिए एक-एक जोड़ा धोती ख़रीदी। बच्चे के लिए भी कुछ कपड़े और खिलौने लिये। हर्षके मारे उसका कान्तिहीन मुख प्रफुल्लित था। भविष्य की उसे ज़रा भी चिन्ता नहीं थी। उसके सम्मुख केवल एक लक्ष्य था, और वह यह कि शीघ्र घर पहुँच जाय।

सेठ जी से बिदा माँगने के लिए वह उनके पास पहुँचा। सेठ जी हाथ में एक तार लिए हुए विचार में मग्न थे।

राजकिशोर को देखते ही मुसकराकर बोले—"कहो पंडतजी, क्या तैयारी हो गई ?"

"हाँ अन्नदाता, आज्ञा हो तो जाऊँ; एक-एक क्षण बीतना कठिन हो रहा है।" राजकिशोर ने हाथ जोड़कर कहा।

"अच्छा !"—कहकर सेठ जी ने मेज़ में लगे हुए एक बटन को दबाया। कुछ क्षण पश्चात् एक दरबान आकर सामने खड़ा हो गया। सेठ जी उससे बोले—"मुनीम जी को भेजो।"

दरबान चला गया। कुछ क्षण पश्चात् मुनीम जी आये। सेठ जी ने उनके कान में कुछ कहा। मुनीम जी चले गये। सेठ जी राजकिशोर से बोले—"तो आप कानपुर वाली दूकान में नौकरी करेंगे ?"

"करूँगा नहीं, तो बाल-बच्चों का पेट कैसे पालूँगा ?"

"अच्छा, तो हम यहाँ से भी चिट्ठी भेज देंगे, और यह चिट्ठी हमने लिखी है, इसे हमारी दूकान पर दे देना। तुम्हें नौकरी मिल जायगी।"

यह कहकर सेठजी ने एक लिफ़ाफ़ा राजकिशोर की ओर बढ़ाया। राजकिशोर ने सेठ जी के हांथ से लिफ़ाफ़ा लेकर उन्हें अनेक आशीर्वाद दिये। इस समय मुनीम जी

आ गये। उन्होंने सेठ जी के हाथ में काग़ज़ का मुट्ठा दिया। सेठ जी ने वह मुट्ठा राजकिशोर की ओर बढ़ाते हुए कहा—"उस दिन मैं एक लाख का सट्टा करने वाला था; परन्तु आपकी बातों से मेरा चित्त इतना प्रभावित हुआ कि मैंने उस दिन वह नहीं किया। अभी मुझे यह तार मिला है। यदि मैं उस दिन वह सौदा कर लेता, तो मुझे एक लाख का नुकसान होता। आपकी बदौलत मेरा एक लाख रुपया बचा है, उसके पुरस्कार में मैं यह आपकी भेंट करता हूँ।"

राजकिशोर ने काँपते हुए हाथों से वह मुट्ठा ले लिया, और सेठ जी से बिदा होकर चल दिया।

रात हो गई थी। राजकिशोर अपने घर पहुँचा। घर में अन्धकार था। राजकिशोर ने पुकारा—"अम्माँ!"

सूनसान घर में 'अम्माँ' शब्द गूँज गया। सहसा किसी ने क्षीण स्वर में कहा—"कौन, बेटा रज्जू?"

राजकिशोर ने कहा—"हाँ अम्माँ, मैं हूँ, दीया तो जलाओ।"

माता हाहाकार कर के रो उठी—"अरे बेटा, तू कहाँ चला गया था?"

राजकिशोर गद्गद कंठ से बोला—"पहले दीया तो जलाओ।"

उसी समय किसी ने उठकर दीपक जलाया। राजकिशोर ने देखा कि दीपक के पास उसकी पत्नी खड़ी है, नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है। एक ओर माता चारपाई पर उठ कर बैठ रही थी—उसके पास ही पुत्र पड़ा सो रहा था। राजकिशोर ने दृष्टि घुमाई। दीवार पर बने हुए चित्र के सामने सब चीज़ें उसी प्रकार धरी थीं। ऐसा जान पड़ता था कि उनकी ओर किसी ने कोई ध्यान ही नहीं दिया। राजकिशोर ने कोट की भीतरी जेब में हाथ डालकर मुट्ठा निकाला और उसे खोला। खोलकर उस के अन्दर से उसने पाँच सहस्र रुपये के नोट निकाले। उन नोटों को लक्ष्मी जी की मूर्ति के सामने रखकर उसने हाथ जोड़े, और आँखें बन्द कर के बोला—"लक्ष्मी महारानी! दिवाली मैया! तुमने जैसी कृपा इस ग़रीब पर की, ऐसी ही सदा बनाये रखना।"

दीपक के पास खड़ी हुई उसकी पत्नी अश्रुपूर्ण विस्फारित नेत्रों से यह दृश्य देख रही थी।

———

कलावान

(१)

गोधूलि का समय था। सूर्यनारायण क्षितिज के नीचे पहुँच चुके थे। ऐसे ही समय में एक धूल-धूसरित बटोही सुन्दरपुर ग्राम में प्रविष्ट हुआ। बटोही की पीठ पर एक गठरी थी, दाहने हाथ में बाँस का एक डंडा और बाएँ हाथ में लोटा-डोर थी। बटोही इधर-उधर देखता हुआ जा रहा था। सहसा उसकी दृष्टि एक चौपाल पर पड़ी। इस चौपाल में एक ओर तख्त पड़ा था, जिस पर एक वृद्ध बैठा हुआ था। सामने ही नीचे एक अलाव से अग्नि की ज्वालाएँ उठ रही थीं। बटोही अलावके निकट जा खड़ा हुआ और खड़े ही खड़े हाथ सेंकने लगा। अलाव के निकट चार व्यक्ति बैठे हुए ताप रहे थे। उनमें से एक व्यक्ति बोला—"भइया, खड़े क्यों हो; बैठ जाओ—अच्छी तरह ताप लो।"

इतना कहकर उस व्यक्ति ने एक ओर सड़क पर बटोही के बैठने के लिए स्थान छोड़ दिया।

बटोही बोला—"बैठेंगे नहीं, सब से पहले रात काटने को स्थान ढूंढना है।"

एक दूसरे व्यक्ति ने पूछा—"कहाँ से आ रहे हो ?"

"इधर पछाँह से आ रहे हैं।" बटोही ने उत्तर दिया।

"जाना कहाँ है ?"

"जहाँ नौकरी मिल जाय।"

वृद्ध बड़े ध्यानपूर्वक बटोही को देख रहा था। नौकरी का नाम सुनकर उसने पूछा—"क्या काम जानते हो ?"

बटोही बोला—"ये बातें तो सुभीते की हैं। बैठने का अवसर मिले तो बतावें। इस प्रकार चलते-फिरते न हम कुछ बता सकते हैं और न आप समझ सकते हैं। एक अन्य व्यक्ति बोला—"ठीक कहते हो भइया ! न जाने कहाँ से थके-माँदे चले आ रहे हो।"

"बहुत लम्बी मंजिल मारे चले आ रहे हैं। देखो न, देह-भर में धूल-ही-धूल है।" एक तीसरे व्यक्ति ने कहा।

वृद्ध बोल उठा—"ऐसी बात है तो हमारी यह कुटिया हाज़िर है। यहीं टिक जाओ। जो कुछ चूनी-भूसी हम खायंगे, वही तुम्हें भी खिलावेंगे। रात को इसी तख्त पर पड़ रहना।"

एक अन्य व्यक्ति बोल उठा—"वाहवा! बन गई बात। अब देखते क्या हो ज्वान? कमर खोल डालो।"

बटोही ने किंचित् मुसकरा कर पीठ पर से गठरी उतारी, और वृद्ध के संकेत पर चौपाल की एक खूँटी पर टाँग दी। डंडा एक कोने में खड़ा कर दिया। तत्पश्चात् बोला—"यहाँ कहीं कुआँ है? जरा दिशा-जंगल से निपट लेते।"

वृद्ध बोला—"बड़ी सुन्दर बात है, दिशा-जंगल का तो समय ही है। वह सामने कुआँ है।" बटोही लोटा-डोर लेकर कुएँ की ओर चला गया। उसके चले जाने के पश्चात् एक व्यक्ति बोल उठा—"देहात में नौकरी ढूंढ़ते-फिरते हैं। देहात में नौकरी धरी है। इन्हें तो सहर में जाना चाहिए।"

वृद्ध बोल उठा—"सो कोई बात नहीं। देहात में भी नौकरी मिलती है। हमारे ठाकुर को ही देखो, कितने नौकर हैं?"

"हाँ, सो तो हैं, पर सहर सहर ही है, देहात देहात ही है।"

"ग़रीब आदमी को देहात में ही सुख मिलता है। सहर के खरचे बड़े लम्बे होते हैं।" वृद्ध ने कहा।

"यह बात ठीक है।"

एक अन्य व्यक्ति बोला—"काका, ठाकुर के यहाँ इन्हें नौकर करा दो।"

वृद्ध बोला—"पहले यह तो पता लगे कि यह काम कौनसा कर सकते हैं। लाठी तो चला नहीं सकते होंगे।"

"हाँ, सो तो नहीं जान पड़ता, वैसा बदन ही नहीं है।"

"हाँ, इसी से तो कहा। ज़मींदारों के यहाँ तो लठैतों का काम ज़्यादा रहता है।" वृद्ध ने कहा।

इसी प्रकार की बातें हो रही थीं कि बटोही आ पहुँचा। वह हाथ-मुँह धोकर ताज़ा दम हो आया था। लोटा-डोर खूँटी पर टांग कर वह अलाव के पास बैठ गया। वृद्ध ने पूछा—"भइया, तुम्हारा नाम क्या है ?"

"हमारा नाम तो उजागरसिंह है।"

"अच्छा, ठाकुर हो! कौन ठाकुर हो ?"

"कछोह।"

"ठाकुर तो कुलीन हो।"

"क्या कुलीन हैं! अब आजकल तो सब बराबर हैं। आजकल तो जिसके पास पैसा है, वही कुलीन है।"

"यह बात ठीक है, परन्तु कुलीन कुलीन ही है।" एक अन्य व्यक्ति बोला।

वृद्ध ने कहा—"तब तो हमारे घर की रसोई तुम खा सकते हो, हम ब्राह्मण हैं।"

"हां, क्यों नहीं खायेंगे? ब्राह्मण के घर की न खायेंगे, तो फिर किस के घर का खायँगे।"

"तमाखू पीते हो?"

"हां, पी तो लेते हैं।"

"तो इन्हें चिलम-भर के देओ। बेचारे न जाने कहां से चले आ रहे हैं। यह पेट भी आदमी को न जाने कहां ले जाता है।"

उजागरसिंह एक दीर्घ-निश्वास छोड़ कर बोला—"यही बात है महाराज जी, पेट न होता तो अपना घर-द्वार छोड़ कर मारे-मारे क्यों फिरते।"

"तुम कौन काम जानते हो?" वृद्ध ने पूछा।

"यही बैल-बछिया का काम जानता हूँ।"

उजागरसिंह की बात सुनकर उपस्थित लोग एक दूसरे के मुँह की ओर ताकने लगे। उन की समझ में नहीं आया कि बैल-बछिया का काम कैसा होता है।

"यही, बैलों को पालना, सिखाना, हांकना इत्यादि।"

फिर सन्नाटा छा गया। इस बार सब लोग किंचित् मुसकराये।

वृद्ध बोला—"यह काम तो देहात में सब कोई जानता है। यह काम तो ऐसा नहीं है, जिस के लिए तुम्हें कोई नौकर रखे।"

उजागरसिंह बोला—"जो जानते हैं, वे रखते हैं। जो जानते ही नहीं, वे क्या रखेंगे?"

वृद्ध सिर हिला कर बोला—"हम तो नहीं जानते। तुम्हीं कुछ बताओ, कैसा क्या होता है?"

उजागरसिंह ने कहा—"ये बातें रजवाड़ों में देखने को मिलती हैं, यहां कोई जानता भी नहीं। हमारा तो यह मौरूसी पेशा है। हमारे हाथ के बैलों का मुक़ाबला साधारण बैल नहीं कर सकते। हमारे पिता रियासत में नौकर रहे। ताल्लुक बैलों का ही काम था।"

उजागरसिंह की बात सुन कर लोगों को उसकी बात पर कुछ विश्वास हुआ, और सब ने उत्सुकता के साथ उस की बातें सुनने की इच्छा प्रकट की। उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए उजागरसिंह इधर-उधर की बातें सुनाने लगा।

(२)

सुन्दरपुर के ज़मींदार ठाकुर सुजानसिंह एक बड़े ज़मींदार हैं। सुन्दरपुर में उनका बहुत बड़ा पक्का भवन बना हुआ है, जो गढ़ी के नाम से विख्यात है।

सुबह के आठ बज चुके थे। ठाकुर सुजानसिंह गढ़ी के विशाल प्रांगण में एक तख्त पर बैठे हुए दातून कर रहे थे। अगल-बगल तीन नौकर खड़े थे। इसी समय हमारे पूर्व-परिचित वृद्ध उनके सम्मुख पहुँचे। वृद्ध को देखकर ठाकुर साहब बोल उठे—पालागन पंडितजी, आज सवेरे-सवेरे कैसे ?

तख्त के समीप ही चार-पाँच कुरसियाँ पड़ी हुई थीं। पंडित जी आशीर्वाद देकर कुरसी पर बैठ गये, और बोले—"एक काम के लिए आपके पास हाज़िर हुआ था।"

ठाकुर साहब बोले—"कहिये, क्या हुक्म है ?"

पंडित जी ने कहा—"कल आपके गाँव में एक ठाकुर नौकरी की तलाश में आया है। मैंने उसे अपने यहां टिका लिया है। आपकी आज्ञा हो, तो हाज़िर करूं।"

"नौकरी के लिए आया ! नौकर तो आपकी दया से हमारे यहां काफी हैं।" ठाकुर साहब ने कहा।

पंडित जी बोले—"सो तो मालूम है। आपके यहां कमी किस बात की है, जगदम्बा का दिया हुआ सब कुछ है; परन्तु ऐसा आदमी आपके यहाँ एक नहीं है, बड़ा गुणी आदमी है।"

"अच्छा ! क्या गुण है ?" ठाकुर साहब ने पूछा।

"बैलों का काम अच्छा जानता है।"

"बैलों का काम कैसा ?"

"बैलों को निकालने का, सिखाने का, हांकने का।"

ठाकुर साहब मुसकरा कर बोले—"पंडित जी, क्षमा करना, आप तो सठिया गये हैं। भला, यह भी कोई काम है, यह काम तो देहात में लगभग सब लोग जानते हैं।"

"मेरा भी यही विचार था, परन्तु उसकी बातें सुनकर समझ में आया कि यह भी एक कला है।"

"घोड़ों की बाबत तो सुना था, परन्तु बैलों की बाबत आज आप ही से सुना।"

"मैंने भी नहीं सुना था, मैंने कल उसी की ज़बानी सुना।"

"अच्छा, उसे बुलवाइये।"

पंडित जी ने एक नौकर की ओर देख कर कहा—"ज़रा हमारे घर चले जाओ। चौपाल में बैठा है, बुला लाओ—उजागरसिंह नाम है।"

नौकर चला गया। इधर ठाकुर साहब बोले—"प्रथम तो आजकल घोड़ों के आगे बैलों की क़दर ही नहीं रही।"

पंडित जी बोले—"मोटरों ने घोड़ों का भी नास मार दिया। आजकल जिधर देखो, मोटर ही दिखाई पड़ती है।

घोड़ागाड़ी का तो रिवाज़ ही उठ गया।"

"यही बात है। अब आप ही बताइये, ऐसी दशा में बैलों को कौन पूछता है?"

"हाँ, यह बात ठीक है परन्तु बैल की ही सवारी ऐसी है, जो सब जगह जा सकती है—चाहे कच्ची में ले जाओ, चाहे पक्की में। घोड़े और मोटर में यह बात नहीं है।"

"कुछ भी हो, परन्तु घोड़ा घोड़ा ही है, बैल बैल ही है। बैल तो अब केवल खेती-भर के काम के लिए रह गये।"

"हमारे जैसे ग़रीब आदमियों का आधार तो बैल ही हैं, सरकार। हम लोगों को घोड़ा और मोटर कहाँ नसीब है।"

इसी प्रकार की बातें हो रही थीं कि उजागरसिंह आ पहुँचा। उसने ठाकुर साहब को झुककर सलाम किया। ठाकुर साहब ने उसे सिर से पैर तक देखकर पूछा—"कहाँ के रहने वाले हो?"

"जयपुर की तरफ का रहनेवाला हूँ, सरकार!"

"ठाकुर हो?"

"हाँ सरकार, कछोह ठाकुर हूँ।"

"क्या काम जानते हो?"

"बैलों का काम जानता हूँ।"

"बैलों का काम तो कोई बड़ा काम नहीं है, बिलकुल मामूली बात है।"

उजागरसिंह हाथ जोड़कर बोला—"सरकार, अधिक तो मैं कुछ कह नहीं सकता, क्योंकि जब तक आप अपनी आँखों न देखेंगे, तब तक कैसे पतियायेंगे? केवल इतना कहता हूँ कि दो बछड़े मेरे सिपुर्द कर दीजिए। सालभर बाद फिर देखियेगा कि वे क्या से क्या हो जाते हैं।"

"क्या हो जायँगे, आदमी बन जायँगे या घोड़ा बन जायँगे?"

"ऐसे बन जायंगे कि आपका चित्त प्रसन्न हो जायगा।"

"और जो चित्त प्रसन्न न हुआ?"

"होगा कैसे नहीं, मैं तो दावे के साथ कहता हूं। सरकार, यह समय की बात है कि मैं सरकार के दरबार में आया हूं। नहीं तो हम लोग रजवाड़ों को छोड़कर कहीं नहीं जाते। मेरे पिता सदा रियासतों में ही रहे।"

"तो तुम ने रियासत क्यों छोड़ दी?"

"बात यह है सरकार कि अब रजवाड़ों में बैलों का शौक़ नहीं रहा। जब से मोटरें चल गईं, तब से घोड़े-हाथी का मान जाता रहा, बैलों की कौन कहे!"

"यह दशा तो सब जगह है।"

"हां, है तो सही, परन्तु देहातों में तो अब भी बैल ही काम देते हैं।"

पंडित जी बोल उठे—"यह भी कर के देख लीजिए धर्मावतार! आप ही जैसे श्रीमान् इन लोगों का कमाल देख सकते हैं।"

उजागरसिंह बोल उठा—"इतना मैं आप को विश्वास दिलाता हूं कि आपका पैसा बेकार नहीं जायगा।"

ठाकुर साहब कुछ क्षणों तक सोच कर बोले—"अच्छी बात है,—क्या तनख़्वाह लोगे?"

"जो आप का जी चाहे।"

"आख़िर कुछ मालूम तो हो।"

"अभी तो मैं इतना ही चाहता हूँ कि मेरा और मेरे बाल-बच्चों का पालन-पोषण होता रहे। फिर तो यदि मुझ में कुछ खूबी होगी, तो मैं जो चाहूँगा, ले लूँगा।"

"अच्छा, तो फिलहाल तुम्हें बीस रुपये मासिक और तुम्हारी खुराक मिलेगी, बाद को देखा जायगा।"

उजागरसिंह सोच कर बोला—"ख़ैर, अभी इतना ही सही। मैं कुछ कहूँ भी तो क्या कहूँ, अभी आपने मेरा

कुछ कमाल तो देखा ही नहीं। इतना भी आप देते हैं, तो बड़ी दया है।"

"तो बस ठीक है। अपना असबाब ले आओ, तुम्हें रहने के लिए जगह बता दी जाय।"

"बहुत अच्छा" कहकर और सलाम कर के उजागरसिंह चला गया।

(३)

उजागरसिंह को पश्चिमीय बछड़ों की एक जोड़ी सौंपी गई। छै मास तक उसने उनके साथ परिश्रम किया। उससे और किसी बात से सरोकार नहीं था। वह रात-दिन उन्हीं की सेवा-सुश्रूषा में लगा रहता था। सुबह-शाम वह उन्हें एक हल्की गाड़ी में जोत कर मीलों तक ले जाता था। छै मास पश्चात् उसने एक दिन ठाकुर साहब से कहा कि मेरी इच्छा है कि आज बछड़ों की चाल आपको दिखाऊं। ठाकुर साहब ने स्वीकार किया। संध्या समय एक हलकी बेहली में दोनों बछड़े जोड़े गये और ठाकुर साहब सवार होकर चले। बछड़े उजागरसिंह के इशारों पर चलते थे। ठाकुर साहब बछड़ों की चाल-ढाल देख कर प्रसन्न हुए। उन्होंने उजागरसिंह की प्रशंसा की। उजागरसिंह बोला—"तीन महीने की कसर और है, तीन महीने पश्चात् आप

देखियेगा कि ये क्या हो जाते हैं।" ठाकुर साहब को इस के पूर्व कभी बैलगाड़ी की सवारी का शौक़ नहीं था। वह केवल आवश्यकतावश कभी कभी बैलगाड़ी का सत्कार कर दिया करते थे, परन्तु अब उन्हें शौक़ उत्पन्न हो चला।

इस प्रकार तीन मास और व्यतीत हो गये। क्रमशः ठाकुर साहब के बैलों की यथेष्ट ख्याति हो गई।

इसी बीच में ठाकुर साहब और एक दूसरे ज़मींदार में कुछ भूमि की बाबत मुक़दमेबाज़ी होने लगी। एक दिन ठाकुर साहब मुक़दमे की पेशी में शहर गये हुए थे। शाम को जिस समय वह लौटे, तो नियमानुसार उजागरसिंह लंहडू लिये स्टेशन पर उपस्थित था। ठाकुर साहब के साथ दो लठबन्द आदमी थे। तीनों व्यक्ति लंहडू पर सवार हो गये। उजागरसिंह बोला—"सरकार, अभी स्टेशन पर एक बड़ी बुरी ख़बर सुनी है।"

ठाकुर साहब ने पूछा—"वह क्या ?"

"एक आदमी ने अभी-अभी मुझे बताया कि आज ठाकुर रौशनसिंह के कुछ आदमी रास्ते में लगे हुए हैं, वे हम लोगों पर हमला करेंगे।"

ठाकुर साहब घबराकर बोले—"तुमसे किसने कहा ?"

उजागरसिंह बोला—"एक आदमी था, मैं उसे पहचानता नहीं।"

"वह कहां है ?"

"इसी गाड़ी से सहर जा रहा था। चला गया होगा।"

ठाकुर साहब बोले—"यों ही बकता होगा, हम पर कौन हमला करेगा ?"

"खैर, मैंने बता दिया, अब जैसा आप उचित समझें।"

लट्ठबन्द व्यक्तियों में से एक ने कहा—"हमारे सरकार पर हमला करने की हिम्मत किस में है ? हमला करना दिल्लगी नहीं है। दस-पंद्रह आदमियों के लिए तो हमीं दोनों काफ़ी हैं। दूसरे इन बैलों का पीछा करना कठिन हो जायगा। इनके बराबर दौड़नेवाले बैल इधर हैं किसके पास ? तुम बेखटके चले चलो जी।"

उजागरसिंह बोला —"यह बात तो पक्की है—अच्छा बैठिये।"

तीनों व्यक्ति लँहडू पर बैठ गये। लँहडू तेज़ी के साथ चल निकला। कोस-भर निकल जाने के पश्चात् ये लोग एक ऐसे रास्ते पर पहुँचे, जिसके दोनों ओर आम के घने बाग़ थे। ये लोग तेज़ी के साथ चले ही जा रहे थे कि

किसी ने कड़क कर कहा, 'रोक लो लँहड़ू !' ठाकुर साहब तथा उनके साथियों ने देखा कि आठ-दस आदमी सड़क के बीचों-बीच खड़े हुए हैं और सब के हाथों में मोटे लठ हैं ।

ठाकुर साहब तथा दोनों लठैतों का चेहरा फ़क़ हो गया। ठाकुर साहब बोले—"उजागरसिंह अब क्या होगा ?"

उजागरसिंह बोला—"आप चुपचाप बैठे रहिये ।"

यह कहकर उसने बैलों को हुसकाया। उजागर के हुसकाते ही बैलों ने कनौतियाँ बदलीं और हवा हो गये। इतनी तेज़ी के साथ बैल भागे कि बीच रास्ते में खड़े हुए आदमी कूदकर अलग हो गये और लँहड़ू साफ निकल गया। दो-एक लाठियाँ भी पड़ीं, परन्तु वे किसी आदमी के न लगकर लँहड़ू के पिछले भाग पर लगीं। ठाकुर साहब और उनके साथियों ने पीछे फिरकर देखा, परन्तु उन्हें धूलकी दीवार के अतिरिक्त और कुछ न दिखाई पड़ा। सब लोगों ने निश्चिन्तता की श्वास ली। ठाकुर साहब उजागरसिंह से बोले—"इस समय तो बड़ा काम किया, नहीं तो प्राणों की ख़ैर न थी।" ठाकुर साहब यह कह ही रहे थे कि पीछे घोड़ों की टापों का शब्द सुनाई पड़ा। ठाकुर साहब घबरा कर बोले—"जान पड़ता है, इनके

साथ घोड़े भी हैं। अब तो निश्चय ही प्राण गये।"

उजागरसिंह बोला—"प्राण जाना इतना सहज नहीं है। आप लोग खूब सम्हल कर बैठ जाइये। आज आपको अपना कमाल दिखाता हूँ।" यह कहकर वह थोड़ा आगे खिसककर बैठ गया, और उसने न जाने क्या किया कि बैल प्राण छोड़कर भागे। इधर अश्वारोहियों ने भी अपने घोड़े छोड़ दिये, परन्तु लँहडू के आगे रहने के कारण इतनी धूल उड़ रही थी कि अश्वारोहियों को रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था। उनके मुँह, नाक और आँखों में धूल भर रही थी, फिर भी वे पीछा कर रहे थे। लगभग चार मील तक अश्वारोहियों ने लँहडू का पीछा किया, परन्तु वे उनके बराबर न पहुँच सके। इतने समय में ठाकुर साहब का गाँव निकट आ गया, अतएव अश्वारोहियों ने घोड़े रोक लिये। कुछ ही क्षणों में ठाकुर सुजानसिंह अपने गाँव की हद में पहुँच गये।

ठाकुर साहब बोले—"बस, अब कोई खटका नहीं। अब चाल धीमी कर दो।"

उजागरसिंह ने बैलों को रोका और लँहडू मन्दगति से चलने लगा।

ठाकुर साहब बोले—"उजागरसिंह, तुमने तो आज

कमाल कर दिखाया। मुझे स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि ये बैल घोड़ों से पेश पा सकेंगे।"

उजागरसिंह बोला—"सरकार, अभी छै मील तक इसी चाल से इनको ले जा सकता हूँ।"

ठाकुर साहब चकित होकर बोले—"वाकई कमाल है। बैलों में इतनी ताक़त!

उजागरसिंह बोला—"बस सरकार इतना ही हुनर आता है। इसीकी बदौलत मेरे पिता सदा राजाओं के दरबार में रहे। मैं उनकी बराबरी का दावा तो कर नहीं सकता—उनको जो बातें मालूम थीं, वे सब मुझे मालूम नहीं हैं। उन्हें ऐसे-ऐसे नुसख़े मालूम थे कि दस-दस पन्द्रह-पंद्रह कोस तक बैल एक चाल से जाते थे, और उनका दम नहीं टूटता था। बैलों को इतना बस में कर लेते थे कि कभी फूल की छड़ी छुवाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी, केवल आवाज़ पर काम करते थे। अब तो सरकार यह विद्या ही लुप्त हुई जा रही है। घोड़ों तक ग़नीमत थी। बैलों और घोड़ों का सदा साथ रहा है, परन्तु इन मोटरों ने तो सब चौपट कर दिया; अब घोड़ों की पूछ तो रही नहीं, बैल किस गिनती में हैं! बैल और घोड़े की सवारी में देर तो अवश्य लगती है, परन्तु ये भरोसे

की सवारी हैं, कभी दग़ा नहीं देतीं। मोटर ससुरी का तो कोई ठीक नहीं, न जाने कब कहाँ दग़ा दे जाय।

ठाकुर साहब बोले—"उजागरसिंह, तुमने आज अपने कौशल से हमारे प्राण बचा लिये। आज से तुम नौकर नहीं, हमारे भाई के समान हो।"

उजागरसिंह ने प्रसन्नमुख होकर सन्तोष की श्वास ली। गुणी अपने गुण का योग्य ग्राहक पाकर जैसी श्वास लेता है, वह श्वास भी वैसी ही थी।

———

श्री जयशंकरप्रसाद

प्रसाद जी का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित धनी घर में सम्वत् १९४६ वि० में हुआ। १२ वर्ष की अवस्था तक इन्होंने स्कूल में ही शिक्षा प्राप्त की परन्तु पिता के देहान्त होने पर इन्हें स्कूल छोड़ना पड़ा। इस के बाद इन्होंने घर पर ही संस्कृत, अंगरेज़ी, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं का अभ्यास कर लिया।

प्रसाद जी की कृतियों में असाधारणता पाई जाती है। उन में कवित्व बहुत है। नव्योद्भावना ही का नाम तो कवित्व है। परन्तु ऐसी बातों को सरल और स्वाभाविक रीति से वर्णन करना ही लेखक की सफलता है। श्री प्रसाद जी की कहानियों मे वह सरलता नहीं। वे ऐसे कठिन और दुरूह भावों को व्यक्त करने को चुनते है, जिन्हें प्रवाहित करना उन के लिये असाध्य है। यदि उनकी वे अद्भुत भावपूर्ण चीज़ें श्री प्रेमचन्द जी की वर्णन-शैली का विशदीकरण और सरल प्रवाह पातीं तो वे निस्सन्देह पृथ्वी के साहित्य में पौर्वात्यपद्धति की बेजोड़ चीज़ें होतीं। वे छायावाद और भिन्नतुकान्त काव्यशैली के भी सिद्ध कलाकार है। कहानियां प्रायः छोटी होती हैं। भाषा प्रायः क्लिष्ट, और भाव गहरे, दृष्टिकोण उलझता हुआ।

मधुआ

"आज सात दिन हो गये, पीने की कौन कहे, छुआ तक नहीं ! आज सातवां दिन है सरकार !"

"तुम झूठे हो। अभी तो तुम्हारे कपड़े से महँक आ रही है।"

"वह...वह तो कई दिन हुए। सात दिन से ऊपर—कई दिन हुए—अँधेरे में बोतल उँड़ेलने लगा था। कपड़े पर गिर जाने से नशा भी न आया। और आपको कहने का ...क्या कहूँ...सच मानिये। सात दिन—ठीक सात दिन से एक बूँद भी नहीं।"

ठाकुर सरदारसिंह हँसने लगे। लखनऊ में लड़का पढ़ता था। ठाकुर साहब भी कभी-कभी वहीं आ जाते। उनको कहानी सुनने का चसका था। खोजने पर यही शराबी मिला। वह रात को, दोपहर में, कभी-कभी सबेरे भी आ जाता। अपनी लच्छेदार कहानी सुनाकर ठाकुर का मनोविनोद करता।

ठाकुर ने हँसते हुए कहा—तो आज पियोगे न !

"झूठ कैसे कहूँ ! आज तो जितना मिलेगा, सब की सब पीऊँगा। सात दिन चने-चबैने पर बिताये हैं, किस लिये ?"

"अद्भुत ! सात दिन पेट काट कर आज अच्छा भोजन न कर के तुम्हें पीने की सूझी है ! यह भी......"

"सरकार ! मौज-बहार की एक घड़ी, एक लम्बे दुःख-पूर्ण जीवन से अच्छी है। उसकी खुमारी में रूखे दिन काट लिये जा सकते हैं।"

"अच्छा आज दिन-भर तुमने क्या-क्या किया है ?"

"मैंने ? " अच्छा सुनिये—सबेरे कुहरा पड़ता था, मेरे कम्बल-सा वह धुआं भी सूर्य्य के चारों ओर लिपटा था। हम दोनों मुँह छिपाये पड़े थे।

ठाकुर साहब ने हँस कर कहा—अच्छा तो इस मुँह छिपाने का कोई कारण ?

"सात दिन से एक बूंद भी गले न उतरी थी। भला मैं कैसे मुँह दिखा सकता था। और जब बारह बजे धूप निकली, तो फिर लाचारी थी। उठा, हाथ-मुँह धोने में जो दुःख हुआ, सरकार वह क्या कहने की बात है ! पास में पैसे बचे थे। चना चबाने से दांत भाग रहे थे। कट-कटी लग रही थी। पराठे वाले के यहां पहुँचा, धीरे-धीरे खाता रहा

और अपने को सेंकता भी रहा। फिर गोमती-किनारे चला गया ! घूमते-घूमते अन्धेरा हो गया, बूँदें पड़ने लगीं। तब कहीं भगा और आपके पास आगया।"

"अच्छा जो उस दिन तुम ने गड़रिये वाली कहानी सुनाई थी, जिस में आसफुद्दौला ने उसकी लड़की का आँचल भुने हुए भुट्टे के दानों के बदले मोतियों से भर दिया था ! वह क्या सच है ?"

"सच ! अरे वह गरीब लड़की भूख से उसे चबा कर थू-थू करने लगी !···रोने लगी। ऐसी निर्दय दिल्लगी बड़े लोग कर ही बैठते हैं। सुना है श्रीरामचन्द्र ने भी हनुमान जी से ऐसी ही···"

ठाकुर साहब ठठाकर हँसने लगे। पेट पकड़ कर हँसते-हँसते लोट गये। सांस बटोरते हुए सम्हल कर बोले—और बड़प्पन कहते किसे हैं ? कंगाल तो कंगाल ! गधी लड़की ! भला उस ने कभी मोती देखे थे, चबाने लगी होगी। मैं सच कहता हूँ, आज तक तुमने जितनी कहानियां सुनाईं, सब में बड़ी टीस थी। शाहज़ादों के दुखड़े, रंग-महल की अभागिनी बेगमों के निष्फल प्रेम, करुण कथा और पीड़ा से भरी हुई कहानियां ही तुम्हें आती हैं; पर ऐसी हँसाने वाली कहानी और सुनाओ, तो मैं तुम्हें अपने

सामने ही बढ़िया शराब पिला सकता हूँ।

"सरकार! बूढ़ों से सुने हुए वे नवाबी के सोने-से दिन, अमीरों की रंग-रेलियां, दुखियों की दर्द-भरी आहें, रंग-महलों में घुल-घुल कर मरने वाली बेगमें, अपने-आप सिर में चक्कर काटती रहती हैं। मैं उनकी पीड़ा से रोने लगता हूँ। अमीर कंगाल हो जाते हैं। बड़ों-बड़ों के घमण्ड चूर होकर धूल में मिल जाते हैं। तब भी दुनिया बड़ी पागल है। मैं उसके पागलपन को भूलने के लिये शराब पीने लगता हूँ—सरकार! नहीं तो यह बुरी बला कौन अपने गले लगाता!"

ठाकुर साहब ऊँघने लगे थे। अँगीठी में कोयला दहक रहा था। शराबी सरदी से ठिठुरा जा रहा था। वह हाथ सेंकने लगा। सहसा नींद से चौंककर ठाकुर साहब ने कहा—

"अच्छा जाओ, मुझे नींद लग रही है। वह देखो, एक रुपया पड़ा है, उठा लो। लल्लू को भेजते जाओ।"

शराबी रुपया उठा कर धीरे से खिसका। लल्लू था ठाकुर साहब का जमादार। उसे खोजते हुए जब वह फाटक पर की बगल वाली कोठरी के पास पहुँचा, तो उसे सुकुमार कण्ठ से सिसकने का शब्द सुनाई पड़ा। वह खड़ा होकर सुनने लगा!

"तो सूअर रोता क्यों है? कुँअर साहब ने दो ही

लात न लगाई हैं ! कुछ गोली तो नहीं मार दी ?"— कर्कश स्वर से लल्लू बोल रहा था; किन्तु उत्तर में सिसकियों के साथ एकाध हिचकी ही सुनाई पड़ जाती थी। अब और भी कठोरता से लल्लू ने कहा—मधुआ ! जा सो रह ! नखरा न कर, नहीं तो उठूँगा तो खाल उधेड दूँगा ! समझा न ?

शराबी चुपचाप सुन रहा था। बालक की सिसकी और बढ़ने लगी। फिर उसे सुनाई पड़ा—ले अब भागता है कि नहीं ? क्यों मार खाने पर तुला है ?

भयभीत बालक बाहर चला आ रहा था। शराबी ने उसके छोटे से सुन्दर गोरे मुँह को देखा। आँसू की बूँदें ढुलक रही थीं। बड़े दुलार से उसका मुँह पोंछते हुए उसे लेकर वह फाटक के बाहर चला आया। दस बज रहे थे। कड़ाके की सरदी थी। दोनों चुपचाप चलने लगे। शराबी की मौन सहानुभूति को उस छोटे से सरल हृदय ने स्वीकार कर लिया। वह चुप हो गया। अभी वह एक तंग गली पर रुका ही था कि बालक के फिर से सिसकने की उसे आहट लगी। वह झिड़क कर बोल उठा—

"अब क्यों रोता है रे छोकरे ?"

"मैंने दिन-भर से कुछ खाया नहीं।"

"कुछ खाया नहीं; इतने बड़े अमीर के यहाँ रहता है और दिन-भर तुझे खाने को नहीं मिला ?"

"यही तो मैं कहने गया था जमादार के पास; मार तो रोज़ ही खाता हूँ। आज तो खाना ही नहीं मिला। कुँअर साहब का ओवर कोट लिये खेल में दिन-भर साथ रहा। सात बजे लौटा, तो और भी नौ बजे तक कुछ काम करना पड़ा। आटा रख नहीं सका था, रोटी बनती तो कैसे! जमादार से कहने गया था!"—भूख की बात कहते-कहते बालक के ऊपर उसकी दीनता और भूख ने एक साथ ही जैसे आक्रमण कर दिया। वह फिर हिचकियाँ लेने लगा।

शराबी उसका हाथ पकड़ कर घसीटता हुआ गली में ले चला। एक गन्दी कोठरी का दरवाज़ा ढकेल कर बालक को लिये हुए वह भीतर पहुँचा। टटोलते हुए सलाई से मिट्टी की ढेबरी जला कर वह फटे कम्बल के नीचे से कुछ खोजने लगा। एक पराठे का टुकड़ा मिला। शराबी उसे बालक के हाथ में देकर बोला—"तब तक तू इसे चबा; मैं तेरा गढ़ा भरने के लिये और कुछ ले आऊँ—सुनता है रे छोकरे! रोना मत, रोयेगा तो खूब पीटूँगा। मुझ से रोने से बड़ा वैर है। पाजी कहीं का, मुझे भी रुलाने का…"

शराबी गली के बाहर भागा। उसके हाथ में एक

रुपया था। "बारह आने का एक देसी अद्धा और दो आने का चाप···दो आने की पकौड़ी नहीं-नहीं आलू, मटर··· अच्छा, न सही। चारों आने का फल ही ले लूँगा, पर यह छोकरा! इसका गढ़ा जो भरना होगा, यह कितना खायगा और क्या खायगा। ओह! आज तक तो कभी मैंने दूसरों के खाने का सोच किया ही नहीं। तो क्या ले चलूँ? पहले एक अद्धा ही ले लूँ!" इतना सोचते-सोचते उसकी आँखों पर बिजली के प्रकाश की झलक पड़ी। उसने अपने को मिठाई की दूकान पर खड़ा पाया। वह शराब का अद्धा लेना भूलकर मिठाई-पूरी ख़रीदने लगा। नमकीन लेना भी न भूला। पूरा एक रुपये का सामान लेकर वह दूकान से हटा। जल्द पहुँचने के लिये एक तरह से दौड़ने लगा। अपनी कोठरी में पहुँचकर उसने दोनों की पाँत बालक के सामने सजा दी। उनकी सुगन्ध से बालक के गले में एक तरावट पहुँची। वह मुस्कराने लगा।

शराबी ने मिट्टी की गगरी से पानी उँड़ेलते हुए कहा—नटखट कहीं का, हँसता है। सोंधी बास नाक में पहुँची न! ले खूब ठूँस कर खा ले, और फिर रोया कि पिटा!

दोनों ने, बहुत दिन पर मिलनेवाले दो मित्रों की तरह साथ बैठकर भर पेट खाया। सीली जगह में सोते

हुए बालक ने शराबी का पुराना बड़ा कोट ओढ़ लिया था। जब उसे नींद आ गई, तो शराबी भी कम्बल तानकर बड़बड़ाने लगा—"सोचा था आज सात दिन पर भर पेट पीकर सोऊँगा; लेकिन यह छोटा-सा रोना पाजी, न-जाने कहाँ से आ धमका!"

❀ ❀ ❀ ❀

एक चिन्ता-पूर्ण आलोक में आज पहले-पहल शराबी ने आँख खोल कर कोठरी में बिखरी हुई दारिद्रय की विभूति को देखा और देखा उस घुटनों से ठुड्डी लगाये हुए निरीह बालक को। उसने तिलमिलाकर मन-ही-मन प्रश्न किया—किसने ऐसे सुकुमार फूलों को नष्ट कर देने के लिये निर्दयता की सृष्टि की? आह री नियति! तब इसको लेकर मुझे घरबारी बनना पड़ेगा क्या? दुर्भाग्य! जिसे मैंने कभी सोचा भी न था। मेरी इतनी माया-ममता—जिस पर, आजतक केवल बोतल का ही पूरा अधिकार था—इसका पक्ष क्यों लेने लगी? इस छोटे से पाजी ने मेरे जीवन के लिये कौन-सा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया है! तब क्या करूँ? कोई काम करूँ। कैसे दोनों का पेट चलेगा! नहीं, भगा दूँगा इसे—आँख तो खोले!

बालक अंगड़ाई ले रहा था। वह उठ बैठा। शराबी

ने कहा—ले उठ कुछ खा ले। अभी रात का बचा हुआ है, और अपनी राह देख! तेरा नाम क्या है रे?

बालक ने सहज हँसी हँसकर कहा—मधुआ। भला हाथ-मुँह भी न धोऊँ। खाने लगूँ! और जाऊँगा कहाँ?

"आह! कहाँ बताऊँ इसे कि चला जाय! कह दूँ कि भाड़ में जा; किन्तु वह आज तक दुःख की भट्टी में जलता ही तो रहा है। तो···" वह चुपचाप घर से झल्लाकर सोचता हुआ निकला—"ले पाजी, अब यहाँ लौटूंगा ही नहीं। तू ही इस कोठरी में रह।"

शराबी घर से निकला। गोमती-किनारे पहुँचने पर उसे स्मरण हुआ कि वह कितनी ही बातें सोचता आ रहा था; पर कुछ भी सोच न सका। हाथ-मुँह धोने में लगा। उजली हुई धूप निकल आई थी। वह चुपचाप गोमती की धारा को देख रहा था। धूप की गरमी से सुखी होकर वह चिन्ता भुलाने का प्रयत्न कर रहा था, कि किसी ने पुकारा—

"भले आदमी रहे कहाँ? सालों पर दिखाई पड़े। तुमको खोजते-खोजते मैं थक गया।"

शराबी ने चौंककर देखा। वह कोई जान पहचान का

तो मालूम होता था; पर कौन है, यह ठीक-ठीक न जान सका।

उसने फिर कहा—तुम्हीं से कह रहे हैं। सुनते हो, उठा ले जाओ अपनी सान धरने की कल, नहीं तो सड़क पर फेंक दूँगा। एक ही तो कोठरी, जिसका मैं दो रुपये किराया देता हूँ, उसमें क्या मुझे अपना कुछ रखने के लिये नहीं है ?

"ओहो ! राम जी तुम हो, भाई मैं भूल गया था। तो चलो आज ही उसे उठा लाता हूँ।"—कहते हुए शराबी ने सोचा—अच्छी रही, उसी को बेचकर कुछ दिनों तक काम चलेगा।

गोमती नहा कर, राम जी—उसका साथी पास ही अपने घर पर पहुँचा। शराबी की कल देते हुए उसने कहा—ले जाओ, किसी तरह मेरा इससे पिण्ड छूटे।

बहुत दिनों पर आज उसको कल ढोना पड़ा। किसी तरह अपनी कोठरी में पहुँच कर उसने देखा कि बालक चुपचाप बैठा है। बड़बड़ाते हुए उसने पूछा—क्यों रे, तूने कुछ खा लिया कि नहीं ?

"भर-पेट खा चुका हूँ, और वह देखो तुम्हारे लिये भी रख दिया है"—कह कर उसने अपनी स्वाभाविक मधुर

हँसी से उस रूखी कोठरी को तर कर दिया। शराबी एक क्षण भर चुप रहा। फिर चुपचाप जल-पान करने लगा। मन-ही-मन सोच रहा था—यह भाग्य का संकेत नहीं तो और क्या है? चलूँ फिर कल लेकर सान देने का काम चलता करूँ। दोनों का पेट भरेगा। वही पुराना चरखा फिर सिर पड़ा। नहीं तो, दो बातें किस्सा-कहानी इधर-उधर की कह कर अपना काम चला ही लेता था! पर अब तो बिना कुछ किये घर नहीं चलने का। जल पीकर बोला—क्यों रे मधुआ, अब तू कहां जायगा?

"कहीं नहीं।"

"यह लो, तो फिर क्या यहाँ जमा गड़ी है, कि मैं खोद-खोद कर तुझे मिठाई खिलाता रहूँगा!"

"तब कोई काम करना चाहिये।"

"करेगा?"

"जो कहो!"

"अच्छा तो आज से मेरे साथ-साथ घूमना पड़ेगा। यह कल तेरे लिये लाया हूँ। चल, आज से तुझे सान देना सिखाऊँगा। कहाँ रहूँगा, इसका कुछ ठीक नहीं। पेड़ के नीचे रात बिता सकेगा न?"

"कहीं भी रह सकूँगा; पर उस ठाकुर की नौकरी न

कर सकूँगा !"—शराबी ने एक बार स्थिर दृष्टि से उसे देखा। बालक की आँखें दृढ़ निश्चय की सौगन्ध खा रही थीं।

शराबी ने मन-ही-मन कहा—बैठे-बैठाये यह हत्या कहां से आ लगी। अब तो शराब न पीने की मुझे भी सौगन्ध लेनी पड़ी।

वह साथ ले जानेवाली वस्तुओं को बटोरने लगा। एक गट्ठर का और दूसरा कल का, दो बोझ हुए।

शराबी ने पूछा—तू किसे उठाएगा ?

"जिसे कहो।"

"अच्छा तेरा बाप जो मुझको पकड़े तो ?"

"कोई नहीं पकड़ेगा, चलो भी। मेरे बाप मर गये।"

शराबी आश्चर्य से उसका मुँह देखता हुआ कल उठाकर खड़ा हो गया। बालक ने गठरी लादी। दोनों कोठरी छोड़कर चल पड़े।

———

जैनेन्द्रकुमार जैन

ये दिल्ली-निवासी नवयुवक हैं। इनकी आयु लगभग तीस वर्ष के होगी। इनके साथ मेरा कुछ घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। अभी कुछ दिन पूर्व वे लेखक के नाते नवेली दुलहिन की भांति शर्मीले थे। परन्तु अब वे अति प्रौढ़ा नायिका की भांति खुल खेल रहे हैं। उनका यह साहस उनके अध्ययन और राजनैतिक जीवन ने उन्हे दिया है। श्री जैनेन्द्र जी का अध्ययन सुन्दर है। उनके भाव मर्मस्पर्शी प्लाट, जीवित, तथा उड़ान असाधारण है। पर वर्णन-शैली उत्कृष्ट नहीं। उसमें बहुत शुष्क वर्णन, लम्बा विश्लेषण होता है। वह पिलपिला और शक्ति-हीन होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे जब कुछ लिखने बैठते है तो पाश्चात्य शैली के कहानी लेखक उनकी कलम की नोक पकड़ कर कहते है ऐसा नहीं ऐसा लिखो। और वे अपने पात्रों की बातें सुनी अन-सुनी करके ऐसा ही करते भी हैं। हाल ही में इनको 'परख' नामक उपन्यास पर हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) का पुरस्कार भी मिल चुका है। इनके परख, फांसी, वातायन आदि कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके है।

हत्या

आख़िर शहर छोड़ा, और हम लोग एक जंगली जगह पहुँचे। वहां एक ओवरसियर रहते हैं, उनके अतिथि हुए।

जगह बड़ी सुहावनी है, और एकान्त। एकान्त है, तभी सुहावना है। नहीं तो आदमी नाम का जन्तु वस्तु सुहावनी पाये, और उसे सुहावनी छोड़े। रेल का स्टेशन वहां से बारह मील होगा, सड़क आठ मील, आदमी की बस्ती पाँच मील। वहां बस पहाड़ियां हैं, और वन हैं। एक नदी बहती है, जिसे बांध से बांधकर रोक दिया गया है। इस तरह वहां बड़ी झील बन गई है। उसी बांध की देख-भाल के लिए यह ओवरसियर साहब यहाँ बसते हैं। झील में किश्तियां पड़ी हैं, और पानी की यहाँ सदा बहार रहती है। जब नदी में और जगह गीली कीच न मिले, तब भी आप यहां किश्ती चलाइये।

हमारे विवाह को बरसों बरस हो गये। जो पत्नी बनकर मेरे साथ आकर मिली थीं, वह हैं, पर उन्हें कोई अब पत्नी नहीं कह सकता। हर बात में वह मां दीखती हैं। इसमें उन्हीं का एकान्त अपराध नहीं है। हम आपस में छः बालकों के माता-पिता हैं। इधर पति से अधिक मैं भी पिता हो गया हूं। अब बुजुर्ग हैं, और वह सब कुछ अविश्वसनीय तमाशा-सा लगता है।

तब, क्या अधेड़ उमरवाले मुझसे सुनकर आपको इसका विश्वास होगा कि जंगल का किनारा छूते-छूते हम लोग परस्पर पिता-माता नहीं रहे, पति-पत्नी तक नहीं रहे, जैसे प्रेमी और प्रेमिका बन गये! लेकिन मैं आपको कहता हूं, शहर शहर है, जंगल जंगल है। जंगल में वनस्पति है, ओस है, घास है, पानी है, हरियाली है। जंगल में क़ानून नहीं है, अदब नहीं है, बाज़ार नहीं है, आदमी नहीं है, अफ़सर नहीं है। तब जंगल वह औषध क्यों न हो, जिसे छूकर आदमी में तारुण्य लहरा आये, बुढ़ापा भागे, जीवन उमग कर उठे, और आदमी पशु की भांति पशु और देवता की नाईं देवता बन जाय?

एक दिन की बात?

हम जंगल में घास पर बैठे थे। श्री ने कहा—

"हम बन्दूक चलाना सीखेंगे।"

बात यह थी कि पहले रोज़ मित्र के यहां बम्बई से नई बन्दूक आई थी।

मैंने कहा—बन्दूक!

बोलीं—हम तो सीखेंगे।

मैंने कहा—अच्छी बात है। ज़रूर सीखोगी।

बोलीं—हम घोड़े पर चढ़ेंगे।

मैंने कहा—अच्छी बात है। ज़रूर घोड़े पर चढ़ोगी। पर, तुम हल्की कम हो।

"हां, हम मोटे हैं, मोटे हैं। तुम करते रहो ठठोली। और हम घोड़े पर चढ़ना ज़रूर सीखेंगे। इतिहास में इतनी वीरांगनाएं नहीं हुई हैं क्या? और, और मुल्कों में जो स्त्रियां सब कुछ करती हैं।"

मैंने माना, ज़रूर करती हैं। और ज़रूर घोड़े पर चढ़कर ही छोड़ना चाहिए। और मैं यों ही आदमी नहीं हूँ कि मेरी पत्नी किताबी वीरांगना तक न बने। आदि-आदि।

मैंने बताया कि ओवरसियर साहब की वह दूसरी गहरे बदामी रंग की घोड़ी सीधी मालूम होती है। कल उसी पर बैठकर देखो। सब से बड़ी बात न डरने की है। जानवर को यह न मालूम होने देना चाहिये कि वह सवार

पर हावी हो सकता है। जानती हो, आत्म-विश्वास सफलता का मन्त्र है। चलकर ओवरसियर साहब से कहेंगे। और देखो, उस लड़के बज्जी को साथ ले लेना। जानवर बिदकने-बिगड़ने लगे, तो मौके का आदमी साथ रहे, यह अच्छा होता है।

शाम को जब साथ बैठे, तो मैंने बातचीत में मित्र से कहा—आपने दो जानवर क्यों रख छोड़े हैं? देखता हूँ, उनमें आपस में बनती भी नहीं, और आपका काम भी एक से मज़े में चल सकता है।

विमनस्क-भाव से वह बोले—हाँ, पर वह सफ़ेद घोड़ा बदमाश है। बदन में ताक़त है तो उलझे बिना नहीं रहता। अभी तौरस साल लिया था। काम में मुस्तैद है तो क्या यह मतलब कि औरों को जीने न देगा। यों दोनों को मैं बहुतेरा अलग-अलग रखता हूँ। पर वह एक बदमाश है। दूसरी, बुढ़िया है।···मेरी मुलाज़मत का यह बीसवाँ साल लग गया है। उसे भी बीसवाँ साल ही समझिये। नौकरी पर बहाल हुए चौथे महीने मैंने यह ली थी। तब तीन बरस की बछेड़ी थी। इसने मेरे साथ अच्छी निबाही। मेरी पेंशन में अब कुछ ही दिन हैं। आदमी के मुक़ाबले में जानवर की उमर ही क्या है? और

मेरी मुलाज़मत का क्या, एक तरह की अफसरी समझिये। इधर इन जानवरों की लाचारगी देखिये। जो दे दिया वही खा लिया, वही पी लिया, और रहते रहे। न पशुता का सुख, न परिवार का सुख। हमारे बोझ को अन्तिम दिन तक अपनी पीठ पर लेकर ढोते रहे, और दिन आया कि ढेर हो गये! सो पारसाल से मैंने उसकी पेंशन कर दी है। सोचता हूँ, इन्साफ़ यह था कि दस साल पहले उसे पेंशन दे दी जाती।...

'लेकिन क्यों,' मैंने कहा—'सवारी तो आप अब भी उस पर कर लेते हैं।'

ओवरसियर साहब ने धीमे से कहा—हां, कर लेता हूं। बच्चे अपने मां-बाप पर सवारी नहीं कर लिया करते?

कहकर उन्होंने ऊपर आंख उठा कर मेरी ओर देखा। उस निगाह की वेदना मानों मेरे भीतर तक गई। जिरह में और प्रश्न करने की बात मेरे जी मे नहीं आई।

वह कहते रहे—मैं बिलकुल सवारी न लूं, तो घोड़ी को दुःख होगा। मैं उसे दुःख नहीं दे सकता। मैं उसके मन की बात समझता हूं। बीस बरस से हम साथ हैं। इसमें अचरज नहीं है।

वह घोड़ी के सम्बन्ध में इसी भांति बहुत-कुछ कहते

रहे। मैं सुनता रहा। मैंने सोचा, श्री की घोड़े पर बैठने की इच्छा का अब मुझे क्या बनाना होगा। उनकी बातों से मैं यह समझ रहा था कि उनका इस पशु के साथ सम्बन्ध प्रयोजन और व्यवहार का नहीं है, आत्मीयता का है। उनके सामान और सम्पत्ति का वह अंश नहीं है, उन के मानो परिवार का अंग है। तब मैं सहसा उस के विषय में अपनी गर्ज़ का प्रदर्शन कैसे कर बैठूं ?

उन्हीं बातों के सिलसिले में मैंने सुना, वह कह रहे हैं—'मेरे यहां जो आते हैं, उन में बालकों और महिलाओं से मेरी इच्छा रहती है कि वे इस पर अवश्य बैठें। आपकी पत्नी से भी मैं यह कहने वाला था। जो सवारी करना जानते हैं, वे सवारी के अभिमान में भरे हुए जानवर की पीठ पर बैठते हैं। मानो वह खुद में एक जानवर न हों। इसलिए शायद आप से तो मैं न कहता। पर, जो चढ़ना नहीं जानते उन्हें लगेगा, गोद तो नहीं, पर अवश्य यह मां की ही पीठ है। मैं अपने लिए कभी उसे सवारी की पीठ नहीं समझता। एक तरह की सिंहासन की पीठ समझता हूं। जब स्वयं मैं अपनी आंखों में उठना चाहता हूं, तब मैं उस पर आसीन होता हूं।...'

उस समय मैंने श्री की इच्छा की बात कही। सुन कर

मानो वह कृतार्थ हुए, और फिर व्यस्त-भाव से घोड़ी का वर्णन करने लगे। बताया, कब कहां किस बालक के अचानक घोड़ी की पीठ से लुढ़क पड़ने पर कैसे वह एक दम चारों पैर साध कर खड़ी हो गई थी; बच्चे को ज़रा चोट नहीं आने दी; कैसे किसी-किसी महिला की रक्षा के लिए बनैले पशुओं का उस ने सामना किया; कैसी वह समझदार है, कैसी चतुर, कैसी बावफा, कैसी आत्मीय। आदि आदि। फिर पुकारा—बज्जी, ओ बज्जी!

बज्जी लड़का उस घोड़ी का सेवक है। उसे दो-तीन बार समझा कर कहा, देखो, सबेरे ही घोड़ी को तैयार कर के लाना। बिलकुल सबेरे, देर न हो।

मित्र की आयु जीवन के दूसरे किनारे की ओर आ रही है। शरीर के साथ मन भी धीमा होता गया है। अब कम बातें रहती जा रही हैं, जिन में उन्हें जीने का उत्साह अनुभव हो। संख्या में जितनी कम हैं, उतने ही वेग से वह उन्हें पकड़ते हैं। मानों उन्हीं पर टिक कर वह रहते हैं। और मानो रह-रह कर वह टटोल लेते हैं कि वे उन के आधार उन के साथ ही हैं, नीचे से कहीं खिसक तो नहीं गये!

बज्जी के चले जाने के अनन्तर भी ख़ासी देर तक

मित्र घोड़ी को लेकर उत्साहशील रहे। अन्यथा वह मन्द और शिथिल ही देखने में आते हैं।

(२)

रात को खूब बारिश हुई। खपरैल पर बौछार तड़तड़ करती पड़ती। बादल गड़गड़ाता। बिजली मुँह चमकाती, और भाग जाती। अपने पुनर्जागृत तारुण्य की हिलोर में हमें यह बहुत अच्छा लगा। जान पड़ा, सब कुछ हम दोनों के लिए विमोह का सामान प्रस्तुत करने में लगा है। घना अँधेरा और विपुल कोलाहल उपस्थित कर के मानो प्रकृति हमें कानोकान कह रही है—'तुम दो हो, और तुम तरुण हो। बाहर दुनिया और कहीं नहीं है। सब को खो दो। बस, एक दूसरे में रहो, एक दूसरे में। तुम्हीं दो हो, जो एक हो, शेष और कुछ नहीं है।'

हम मग्न थे। लेकिन, हमें क्या मालूम था, बाहर वही प्रकृति क्या कुछ नहीं कर रही थी।

सवेरे तक बूँदाबाँदी धीमी हो गई थी। वह भी जैसे रुकने की प्रतीक्षा में थी। श्री सोई पड़ी थीं। मैंने कहा—उठो। घोड़े पर बैठ कर घूमने जाना है कि नहीं?

उन के उठने में शीघ्रता नहीं हो सकी। लेकिन उठ ही गई, तब जान पड़ा, घोड़ी के आने की पल-पल देर अब उन्हें

असह्य है। पूरी तरह तैयार नहीं हुई कि पूछा—बज्जी लाया घोड़ी ?

मैंने कहा—लाता होगा।

बोलीं—अच्छा लाता होगा! क्यों नहीं उसे अपने काम का ख़याल रहता ?

मैंने पुकारा—बज्जी, बज्जी!

बज्जी का पता नहीं था।

मैंने पुकारा—पगुई!

पगुई ने आकर बताया, बज्जी अपनी जगह नहीं है।

मैंने पूछा—बाबू कहाँ हैं ?

श्री ने कहा—अच्छा, चाय लाओ।

पगुई झटपट कर के चाय लाया और खबर दी, ओवरसियर बाबू भी नहीं हैं, कहीं गये हैं।

श्री ने पूछा—कहाँ गये हैं ?

पगुई चुप खड़ा रहा।

श्री ने ज़ोर से कहा—मालूम नहीं, हमें घूमने जाना है ?

पगुई चुप रहा, और मैंने जब कहा, 'जाओ', तब वह चला गया।

चाय बीच में लेकर मैंने परिस्थिति की आलोचना सुननी

शुरू की। कहीं-कहीं इतस्ततः स्वयं भी योग दिया। पास हुआ कि कही बात पूरी न की जाय, तो ग़लती है, भारी ग़लती है, अपराध है। इसका क्या अर्थ होता है कि कोई आशा में रहे, और उस का समय खराब हो? काम नहीं हो सकता है, तो क्यों नहीं वक्त पर साफ़ 'नहीं' कर दिया जाता। आख़िर कहाँ है अब वह बज्जी, और क्या हुए ओवरासियर साहब?

मैंने कहना चाहा—देखो भाई···

किन्तु तत्क्षण मुझे मालूम हुआ, मर्द आधिपत्य का प्रेमी है। यह भी मालूम हुआ कि वे दिन अब गये, और सत्य सत्य है, और साँच को दुनिया में कहीं आँच नहीं है, और स्त्री पुरुष की दासी नहीं रहेगी, और···

मैंने मान लिया, आधिपत्य की आदत ऐतिहासिक दुर्भाग्य से मेरी मज्जा-मज्जा में व्याप्त हो गई होगी, और मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

इसी तरह की बातों के बीच में बज्जी आया, और खबर दी कि बाबूजी, घोड़ी की टाँग टूट गई है। अब मरी समझिये।

श्री सुनकर एक दम चिन्ताग्रस्त हो गईं मैं बज्जी के साथ मेंह में गया, और देखा, एक पेड़ के नीचे घोड़ी खड़ी

है। उस की अगली एक टाँग पुट्ठों पर से बिलकुल अलग हो गई है। बस, खाल के सहारे शरीर के साथ हिलगी हुई लटकी है। उसे अपार वेदना है। वह चल सकती नहीं, बैठ सकती नहीं, हिल सकती नहीं। दोनों ओर आँखों से गाढ़े-गाढ़े आँसू निकल कर नीचे तक आ गये हैं। वे गीले मोम की लकीर की तरह वहाँ जमे हुए हैं। घाव से लहू रिस रहा है, और बहुतेरा बाहर आकर जम गया है। आसपास गोश्त के छिछड़े लटक रहे हैं। वहाँ मच्छरों, मक्खियों और भिनगों का अन्त नहीं। बिलकुल पानी में भीग रही है। सारी रात भीगती रही है। मालूम हो गया, अब कुछ पल की मेहमान है। यह भी मालूम हुआ कि उस की यह हालत उस बदमाश घोड़े ने की है।

मैंने देखा, पास ही एक ओर भीगते हुए मित्र खड़े हैं। बरसाती नहीं है, न छतरी है। गुम खड़े हैं। मुझे नहीं सूझा, कैसे उन्हें सम्बोधन कर के कुछ कहूँ, विमूढ़ खड़ा रह गया।

उसी समय तीनों पैरों पर ज़ोर डालकर घोड़ी ने एक कदम बढ़ना चाहा। वह गिर भी पड़ती, तो उसे चैन मिलता। पर, उस टूटी टाँग को लेकर ढेर की तरह पड़ जाना तक भी उसके लिए सम्भव न रह पाया। ज्यों ही

टूटी टाँग उसने धरती पर टेकी कि असह्य पीड़ा से उसकी सारी देह काँप गई, मुँह पर मूर्च्छा का भाव हो आया, आँखों में सोत भर आया। और, वह मुर्दा टाँग फिर डंडे की तरह अधर लटक गई!

तभी चल कर मित्र मेरे पास आये। कहा—चलो-चलो। यहाँ भीगने से क्या फ़ायदा है। और, बाँह में हाथ डाल कर वह मुझे ले चले।

राह में पूछा—हाँ, चाय पी ली?

मैं देख सका, इस प्रश्न में उत्तर की अपेक्षा नहीं है। कुछ है भीतर, जिस तक मेरी निगाह न पहुँचने देने के लिए मानों यह प्रश्न मेरे सामने डाला गया है। जैसे इस प्रश्न का अन्तर डाल कर अपने मर्मस्थ दर्द को उन्होंने मुझ से दूर बना लेना चाहा है।

मैंने कहा—हाँ, चाय तो पी ली।

बोले—पी ली? अच्छा किया। तुम मेंह में भीगने क्यों वहाँ गये? उसे कौनसा अब जीना है?

मैंने पूछा—आप क्या कीजिएगा?

कुछ देर चुप रहकर उन्होंने पूछा—क्या करूँ?

मैंने कहा—वह अब जी तो सकती नहीं। गोली मारकर ख़त्म कीजिए।

उन्होंने आंख उठाकर मुझे देखा।—'मार दूं?'

मैंने बहुतेरा चाहा कि कह सकूं 'हाँ', पर उन उठी हुई और फिर झुकी हुई आँखों में मैंने जो देखा, उसके बाद किसी भाँति मेरे जी में यह साहस नहीं हुआ।

उन्होंने कहा—नहीं, मुझसे नहीं होगा! ठीक क्या है, कौन जाने। पर, मुझसे नहीं बनेगा।

मैंने कहा—आख़िर क्या कीजिएगा?

बोले—क्या करूं। अभी तो यह जानता हूं कि देखूंगा, इलाज हो सकता है या नहीं।

मैंने संदिग्ध स्वर में कहा—इलाज हो सकता है?

वह चुप रह गये।

मैंने कहा—इलाज अब क्या होगा। मिनटों की तो बात है।

'मैं नहीं जानता।'—कहकर फिर चुप हो गये।

कुछ देर में सहसा उन्होंने व्यस्त भाव और बलिष्ठ स्वर में पुकारा बज्जी!

जान पड़ा, कुछ बात उन्होंने पकड़ पाई है। वहाँ रहनेवाले अपने सब मातहतों को उन्होंने इकट्ठा किया। टिण्डैल, पतरौल, सबको आसपास के गाँव में भेज दिया। हिदायत दी, जो इस बारे में कुछ भी जानते हों, सबको

यहाँ ले आओ। अगर वे कुछ न कर सकें, तो फ़ौरन ज़िले के अस्पताल में मेरी गाड़ी में उठाकर ले जाना। मेरी बाट मत देखना। और देखिए मुंशी जी, ख़र्च की तरफ़ मत देखिएगा। मुझे आज ज़रूरी काम है। मिट्टी नपवानी है। जब लौटूं, घोड़ी यहाँ न देखूं। समझा ?

उन सब लोगों को भेज देने के बाद मित्र फिर आप भी चलने लगे।

मैंने कहा—कहाँ जा रहे हैं, चाय तो पी लीजिए।

बोले—मुझे अब याद आया, मिट्टी नपवानी है। बहुत ज़रूरी काम है। मुआइना आ गया, तो मुश्किल होगी। जल्दी लौटूँगा।

मैंने कहा—खाने के वक्त तक लौट आइयेगा।

कहा—हाँ-हाँ, ज़रूर।

वह चले गये, और मैंने जान लिया, उनका काम जल्दी समाप्त नहीं हो पायगा।

(३)

वह इतवार का दिन था। उस दिन बहुत से भद्रवर्गीय अँगरेज़ी और हिन्दुस्तानी वहां आ जाया करते हैं। स्थान दर्शनीय है, और रमणीय।

सड़क से लगा हुआ हमारा स्थान था, और हम

बरामदे में ड्राफ्ट खेल रहे थे। किसी भी खेल में श्री हारने से इतनी डरती है कि ड्राफ्ट जैसे खेल में बराबर हारती हैं। जितना हारती हैं उतना ही हारने का डर और जीतने की इच्छा उन्हें सताती है। इसलिए और खेलती हैं, और और हारती है। और, और हारती हैं, और और खेलती हैं। रोटी एक तरफ गई और खेलते-खेलते कोई एक बज आया। क्या जाने यह भी बात रही हो कि घोड़ी की दशा पर मन में जो बेचैनी थी, उसे हठात् अस्वीकृत करने के लिए हम यों खेल रहे थे। मन के हरएक असन्तोष को लेकर हम यह आवश्यक बना लेते हैं कि यह दबा रहे, या पास न आये। व्यस्तताओं का बोध सृजन करके हम उसे दबाते हैं, और वक्त टालकर उसे दूर हटाते हैं। हम घोड़ी की तात्कालिक परिचर्या में नहीं लग सकते थे, तब आवश्यक था कि किसी भाँति इतने व्यस्त रहें कि उसका ध्यान हमसे परे रहे। सो, शायद, हम खेल रहे थे। मित्र को तो भला अभी लौटना क्यों था ?

इतने में देखता हूँ, श्री एकदम उठकर अन्दर भागी जा रही हैं। मैंने कहा—क्यों, क्यों ?

ज्ञात हुआ कि सामने से एक अँगरेज़ भद्र पुरुष हमारी ओर ही बढ़ते हुए आ रहे हैं। मोटर सड़क पर

खड़ी है। आकर उन्होंने कहा—'सड़क पर एक घोड़ी है। आपकी है ?'

मैंने कहा—नहीं, पर कहिये।

उन्होंने पूछा—आपने उसके बारे में क्या सोचा है ?

'निस्सन्देह उसका इलाज कराया जायगा। नहीं तो ज़िले के शहर के अस्पताल में भेजा जायगा। हाँ, वह दूर है।'

सज्जन—छब्बीस मील है। मैं डाक्टर हूँ। वह अच्छी नहीं हो सकती।

मैं—डर तो हमें भी है। पर, भरसक करना हमारा काम है।

स०—नहीं, उसे गोली दाग देनी चाहिए। आप कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं ?

मैं—मैं मालिक नहीं हूँ।

स०—मालिक मैं भी नहीं हूँ। मैं उनका दोस्त भी नहीं हूं। लेकिन, मेरे लिए बर्दाश्त करना मुश्किल है। मैं गोली मार सकता हूं।

मैं—अर्ज़ है, मैं मालिक नहीं हूं।

स०—मालिक कहां हैं ?

मैं—यहाँ के ओवरसियर की यह घोड़ी है। आपको

शायद आगे सड़क पर ही मिलें ।

स०—ठीक । न मिलें, तो आप उनसे कहें, फौरन उसे शूट कर दें । नहीं तो अधर्म है, और मैं उनकी रिपोर्ट करने को मजबूर हूँगा ।

वह चले गये । श्री को मैंने फिर बुलाया । आते ही उन्होंने कहा—वैसी ही बाज़ी लगाओ । अब के तुम कभी नहीं जीत सकते थे । यह कौन था ?

मैंने उस अंगरेज़ की बात बताई । पशु की इस करुणार्त्त दशा के प्रति श्री में सहानुभूति न थी, सो नहीं; पर, यह घोड़ी जातिगत और व्यक्तिगत रूप में उनके निकट इतनी अनात्मीय और इतर कोटि की प्राणी थी कि उसे लेकर उसका मन विकल होने को तैयार न था । स्त्रियां स्त्री होती हैं । मैं सोचता हूं, उनका हृदय कोमल है, सो वह कुछ विशद भी होता तो—? मैं ही फिर सोच लेता हूं—'नहीं, नहीं, यह न सोचूंगा ।'

उन्होंने कहा—यह अंगरेज कौन होते हैं, जो हर बात में हमारी दख़ल देंगे ?

मैंने कहा—उसकी बात कोई बहुत बुरी तो न थी ।

'लेकिन वह कौन होता है ? जानते नहीं, हिन्दुस्तान

गुलाम है। तुम गुलामी करो, लेकिन मैं आज़ाद होना चाहती हूं।'

मैंने कहा—वह तो सब ठीक है। और गुलामी में मुझे भी बहुत सुख नहीं मिल रहा है। पर, अंगरेज़ है, इसलिए यह तो नहीं कि वह आदमी भी नहीं है। और आदमी को दया करने का कब अधिकार नहीं है?

'अच्छी दया है कि उसे मार दो!'

'और तुम्हारी अच्छी दया है कि उसे मरता हुआ रहने दो!'

'तो जाओ न, तुम यह दया का काम करो। मेरा पीछा छोड़ो।'

और मुझको और ड्राफ्ट को छोड़कर वह चली गई। मेरी तबीयत, मर्द हूं तो क्या, यह न हुई कि इस बार हारूं और उनको मनाऊं। तब मैं वहीं बैठा-बैठा गहन तत्त्व की बात सोचने लगा—इस सृष्टि में क्या सार है, क्या असार है। तभी मैंने अपने मन में यह प्रतीति भर पाई कि यहां जो-जो असार है, सब पुरुष है, सारभूता बस स्त्री है। और मेरा यहां ठौर-ठिकाना तभी तक है, जब तक किन्हीं सारभूता का आश्रय मुझे नसीब है। सोचा चलूं, कहूं—हे स्त्री, मुझे क्षमा कर। क्षमा तेरी शोभा है। भूल मेरा काम है।

हे स्त्री क्षमा कर, उठ, मुझे भोजन दे ! तेरे हाथ का भोजन पाने से ही मुझमें कुछ सार बना है, नहीं तो मैं निस्सार हूं, नीरस हूं।'

इसी विचार को सोच-सोच कर मैं श्री के पास जाने लिए मन मज़बूत कर रहा था। आप जानते हैं, विचार और कृत्य में अन्तर है। पर, मैं जानता हूं, विचार और कृत्य में सम्बन्ध भी है। किन्तु, सम्बन्ध पुष्ट होते-होते उनमें अभिन्नत्व स्थापित हो ही कि बाधा पड़ गई। वही अंगरेज़ सज्जन आ गये। आते ही पूछा—वह आ गये ?

मैं—आपको नहीं मिले ?

स०—नहीं, मुझे नहीं मिले। कब तक, आप समझते हैं, वह लौटेंगे ?

मैं—क्या कह सकता हूं। अब तक तो उन्हें आजाना चाहिए था।

स०—देखिये, मुझे जल्दी वापस पहुंचना है। पिछला एक घंटा मुझे उनके पाने में खोना पड़ा है। उनको इस तरह अपने जानवर के बारे में लापर्वाह नहीं हो जाना चाहिए-मेरा उससे वास्ता नहीं है। लेकिन, मैं रात को सोना चाहता हूं। मुझे नहीं पसन्द कि मेरा दिल मेरी नींद हराम

करे। जानवर कैसे उस हालत में छोड़ा जा सकता है।—वह कब आयेंगे?

मैं—आप तशरीफ रखिये। शायद लौटते ही हों।

स०—क्या मुझे रहना होगा। लेकिन, मेरा बड़ा हर्ज़ हो रहा है। आध घंटे से ज्यादा देना, लेकिन, नामुमकिन है।...आप उनके मित्र हैं।

मैं—अतिथि।

स०—आप क्या उनकी तरफ से मुझे इजाज़त नहीं दे सकते।

मैं—शायद दे भी सकता। लेकिन, उनके सेंटिमेंट्स का मुझे ख़याल है।

स०—SENTIMENTS!

मैं—यह जानवर बीस बरस से उन के पास है। जानते हैं, उनका क्या उसके साथ वास्ता है? अपने हाथों कब्र खोद कर उसे गाड़ना आसान नहीं है।

स०—(विनीत भाव से) मैं समझता हूँ। मैं समझ सकता हूँ। पर, इसी से मेरी बात और भी मानी जानी चाहिए।

मैं—यह दृष्टिबिन्दु की बात है। लेकिन, मुझे इजाज़त

दीजिए कि मैं निवेदन करूँ, आप तशरीफ रखें। यह कमरा है। कृपा होगी।

स०—नहीं-नहीं। यह तकलीफ़ क्यों? हम इतने अपनी-गाड़ी में हैं। कुछ देर की तो बात है।

किन्तु मेरा अनुरोध हार्दिक था, मैंने उसे ढीला न किया, और वह भी उसे टाल न सके। अपनी सहधर्मिणी को भी मोटर से ले आये। मेरा परिचय कराया, मैंने अपना नाम बता कर सहायता की।

महिला हँसी।—'आपका नाम तो अजीब सुन पड़ता है। अच्छा लगता है। आप ने इन्हें देखा? मैं इनसे सह-मत नहीं हूँ। मैं इनसे सहमत नहीं होती। मैं कहती हूँ, हर काम की ज़िम्मेदारी ले लेने वाले हम कौन हैं? हमारे भाव हैं, तो दूसरे के भी कुछ भाव हैं। हम कौन हैं कि चाहें, हमारे भावों की रक्षा के लिए दूसरा अपने भावों का उत्सर्ग दे।—अगर यह भावों की ही बात हो तो, लेकिन वह भी नहीं है।

सज्जन ने असमंजस में कहा—महाशय, क्षमा कीजिए। हम सदा असहमत होते हैं। और आप क्षमा करें, अगर इसका तमाशा आपके सामने किये बिना हम न रहें। मैं हारता हूँ और कहता हूँ, मेरे पास कोई तर्क नहीं

है। लेकिन मैं जानता हूँ, मैं ग़लत नहीं हूँ।

मैं—मैं नहीं जानता···

महिला—और मैं जानती हूँ, यह ग़लत हैं। और मैं यह भी जानती हूँ कि यह जानते हैं, यह ग़लत हैं। कम से कम इन्हें जानना चाहिए। आप को मालूम नहीं, तीन बजे कुछ मित्र हमारे यहां निमन्त्रित हैं। और इन के कहने का मतलब यह है कि इन को मालूम नहीं कि किसी राह पड़ी झंझट में पड़ कर उस वक्त को बिता देना ग़लत है। मैं कहती हूँ—

स०—मैं कहता हूँ, मित्र रुष्ट न होंगे। होंगे, तो हम उन से क्षमाप्रार्थी हो लेगें, और दुहरे निमन्त्रण दे लेंगे। किन्तु, प्रिय, क्या इन महाशय का अपने में उलझाना आवश्यक है? (मुझ से) क्षमा कीजिएगा, हमारा मतभेद रहता है। मत-भिन्नता ही क्या जीवन का स्वाद नहीं है? पर, उस को लेकर शायद हम आप के लिए रुचिकर नहीं हो रहे हैं।

मैं समझ सका, इन दोनों में इस से पहले भी विवाद होता रहा है, उस की गर्मी में एक अपरिचित की उपस्थिति को ये हठात् भूलते और हठात् याद करते हैं मैंने कहा—नहीं-नहीं···

कुछ देर बाद सज्जन ने घड़ी की ओर देख कर कहा,—

'देखिये, अभी वह नहीं आये। अब मेरा दोष नहीं है। अपने मित्र से कहियेगा, मेरा दोष नहीं है।'

मैंने प्रश्नवाचक भाव से उन्हें देखा।

उन्होंने कहा—मैं चला तो जा ही रहा हूँ। लेकिन, यह ठीक नहीं। और मुझे उन की रिपोर्ट जरूर करनी होगी।

मैंने कहा—क्या मैं एक बात कह सकता हूँ? मित्र अनुपस्थित हैं, इस का कारण यह है कि घोड़ी के विषय की उन की अन्तस्थ वेदना यहाँ रह कर उन्हें असह्य होती है।

मित्र ने ध्यानपूर्वक मेरी बात को सुना, फिर कहा—होगा। पर यह ठीक नहीं है। कह कर सज्जन अपनी सहधर्मिणी के साथ चले गये। मैं मोटर तक साथ गया। वहाँ से महिला ने कहा—आपसे मिलकर हम सुखी हैं। धन्यवाद।

वह गये और मैं निश्चिन्त हुआ। लौटा, तब भूल गया था कि मेरे और श्री के बीच कुछ गड़बड़ भी हुई है। भीतर पहुंच कर मैंने कहा—कहिये साहब।

बोलीं—हाँ, मेम सा'ब से बड़ी घुटघुट कर बातें कीं।

मैंने कहा—और तुम क्या कम हो?

मतलब इसी तरह हमारे बीच में कुछ-न-कुछ हुआ।

कुछ बिगाड़ न हो, तो सुधार क्या हो। झगड़ा न हो, तो मेल का अवसर किधर से आये। सो, खाने से पहले हम झगड़े न होते, तो खाने के बाद के हमारे मिलन में मिठास का ऐसा ज्वार किसी प्रकार बनकर न आ सकता। पर, बुरा हो भाग्य का, जिसे सुख सह्य नहीं है। उसी समय कहीं पास ही से बन्दूक का धड़ाका सुनाई दिया। मैं बाहर बरामदे में आया!

देखता हूँ कि वही अँगरेज़ सज्जन धीरे-धीरे बरामदे की ओर ही बढ़ते आ रहे हैं। बंदूक उनके हाथ में है। उनके आते ही मैंने पूछा—आपने घोड़ी को मार दिया। यह ठीक किया।

उन्होंने शान्त भाव से जेब से सौ-सौ के दो नोट निकालकर मेरे सामने मेज़ पर रख दिये। उसके बाद अपने नाम का कार्ड निकाला, और उस पर अपना पूरा पता लिखा। उसे भी मेरे सामने मेज़ पर रख दिया। कहा—घोड़ी दो सौ से ज्यादे की हो, तो आप मुझसे कहें। दो सौ ये रखे हैं। मित्र से कहिये, वह चाहें, तो अदालत में जा सकते हैं। मेरा पूरा पता उस कार्ड पर है। उनसे यह भी कहियें कि मुझे उनकी रिपोर्ट करनी होगी। मेरी सफ़ाई थोड़ी है। दस-बीस मील जाकर मैं लौट आया

हूं। मैं अपनी नींद हराम करना नहीं चाहता था। मैं आया, और मैंने इसे मार दिया। आप मित्र से कहियेगा, वह अदालत जा सकते हैं।

मैंने कहना चाहा कि अपने मित्र की ओर से मैं उन्हें धन्यवाद दे सकता हूँ, लेकिन वह सज्जन चले गये।

(४)

छै मास बाद मुझे मित्र का पत्र मिला। लिखा था, दो महीने हुए उनकी नौकरी छूट गई। मैंने उसी कार्डवाला पता भेजकर उन्हें लिखा, वह नौकरी, चाहें तो उस पते से लिखने पर, मुझे विश्वास है, नौकरी मिल जायगी। मैं नहीं जानता, मित्र ने मेरी सलाह पर उक्त पत्र लिखा या नहीं, या नौकरी मिली या नहीं।

———

हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थमाला

मोतीमाला के बढ़िया पुष्प

१ गल्प मंजरी—हिन्दी के सुप्रसिद्ध गल्पलेखकों की सर्वोत्तम गल्पों का संग्रह। संग्रहकर्ता—भारतविख्यात गल्पसम्राट् श्रीयुत सुदर्शन—पुस्तक पंजाब यूनिवर्सिटी की हिन्दी रत्न तथा इन्टर परीक्षा में नियत है। बहुत बढ़िया सुनहरी जिल्द सहित मूल्य २॥) रु०।

२ बृहद्भारतीय चित्रकारी में रामायण—सचित्र-लेखक-डा० के. एन. सीताराम एम. ए., पी. एच. डी. क्यूरेटर लाहौर म्यूज़ियम पुस्तक बड़ी खोज-पूर्वक लिखी गई है—राष्ट्रभाषा मे इस विषय पर पहला प्रयत्न है। पंजाब टैक्सट बुक कमेटी ने पुस्तक की उपयोगिता को देखते हुए लेखक को २००) रु० इनाम दिया है। पुस्तक हर एक लाइब्रेरी में अवश्य होनी चाहिए। बढ़िया सुनहरी जिल्द सहित मूल्य २॥) रु०।

३ सुदर्शन सुमन—इस में सुप्रसिद्ध गल्पसम्राट् श्रीयुत सुदर्शन जी की अपनी ही उत्तमोत्तम गल्पों का संग्रह है। कहानियें इतनी रोचक हैं कि बिना संपूर्ण पढ़े छोड़ने को जी नहीं चाहता। इस पर भी पंजाब सरकार ने ३५०) रु० इनाम दिया है। मूल्य २) रु०

४ श्रीहर्ष—ले० श्री राधाकुमुद मुकर्जी एम. ए., पी. एच. डी, इतिहास शिरोमणि प्रोफेसर लखनऊ विश्वविद्यालय। पुस्तक को तमाम नवीन खोजों से पूर्ण कर दिया है। मूल अंग्रेजी पुस्तक से इसमें अनेक विशेषताएं हैं। पुस्तक बहुत बढ़िया एन्टिक पेपर पर छपी है १॥) रु०

५ सूरसूक्तिसुधा—इस पुस्तक के लेखक हैं जगत्प्रसिद्ध कवि श्री वियोगीहरि। विशेष भाव समझाते समय भाषा इतनी सरल और भाव इतने स्पष्ट और हृदयग्राही ढंग पर रखे हैं कि कृष्ण-प्रेम की तरंग में पाठक

विलीन हुआ जाता है। इस पुस्तक में महाकवि सूर के पदों का पाठ संशोधित पाठ के आधार पर दिया गया है। पुस्तक ऐन्टिक पेपर पर छपी है। मूल्य १।) रखा है।

६ **दाहर अथवा** सिन्ध-पतन—हिन्दी साहित्य के यशस्वी लेखक पंडित उदयशंकर भट्ट की प्रौढ लेखनी से निकला हुआ ऐतिहासिक एवं वियोगान्त नाटक। इस पर भी पंजाब सरकार ने २५०) रु० इनाम दिया है। मूल्य १) रु०

७ **राका**—हिन्दी के यशस्वी कवि श्री उदयशंकर जी भट्ट की कविताओं का अपूर्व संग्रह, हृदयतंत्री को झंकृत कर देने वाली रहस्यवाद, अनुभूतिवाद और कला को अनुप्राणित करने वाली काव्य साहित्य के मधुरतर गायनों से पूर्ण। प्रत्येक सहृदय, कला प्रेमी के पढ़ने योग्य-बढ़िया सुनहरी जिल्द १)

८ **महाराणा प्रताप**—मूल लेखक—प्रो० श्रीराम शर्मा एम० ए० अनुवादक—श्री सन्तराम बी० ए०। महाराणा प्रताप के जीवन संबन्धी आज तक की सब खोजों से परिपूर्ण और प्रमाणिक इतिहास मूल्य १)

९ **अम्बा**—(वियोगान्त एवं मौलिक नाटक) लेखक श्रीयुत उदयशंकर जी भट्ट-मूल्य ॥।=)

१० **गल्पमाला**—हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ १५ गल्प लेखकों की सर्वोत्तम कहानियों का संग्रह—संग्रहकर्त्ता-डा० बनारसीदास जी एम० ए०, पी० एच० डी० मूल्य २)

११ **गल्परत्नावली**—हिन्दी के सुप्रसिद्ध गल्पलेखकों की सर्वोत्तम गल्पों का संग्रह-संग्रहकर्त्ता—भारत विख्यात, अनेक ग्रंथों के रचयिता, सुप्रसिद्ध कहानी लेखक आचार्य श्री चतुरसेन शास्त्री—मूल्य १॥।≈)